प्रकाशक :
जैन विश्व भारती
लाडनूं (राजस्थान)

प्रबन्ध सम्पादक :
श्रीचन्द रामपुरिया
निदेशक
आगम और साहित्य प्रकाशन
(जैन विश्व भारती)

प्रकाशन तिथि
विक्रम संवत् २०३१
(२५००वां निर्वाण दिवस)

मूल्य : ३० रुपये

मुद्रक :
भारती प्रिंटर्स
दिल्ली-११००३२

ĀYĀRO

(Original Text with Hindi Translation and Notes)

Vacanā Pramukha
ACHARYA TULSI

Editor and Commentator
MUNI NATHMAL

JAIN VISHVA BHARATI PUBLICATIONS

Publishers
Jain Vishva Bharati
Ladanun (Rajasthan)

Managing Editor
S. C. Rampuria
Director
Agam aur Sahitya Prakashan
Jain Vishva Bharati

Price
Rs. 30.00

Printed at
Bharati Printers
Delhi-110032

समर्पण

पवाहिया जेण सुयस्स धारा,
गणे समत्थे मम माणसे वि।
जो हेउभूओ स्स पवायणस्स,
कालुस्स तस्स प्पणिहाण पुव्वं ॥

जिसने श्रुत की धार बहाई,
सकल संघ में, मेरे मन में।
हेतुभूत श्रुत-सम्पादन में,
कालुगणी को विमल भाव से॥

आचार्य तुलसी

अन्तस्तोष

अन्तस्तोष अनिर्वचनीय होता है उस माली का, जो अपने हाथों से उप्त और सिंचित द्रुम-निकुंज को पल्लवित, पुष्पित और फलित देखता है; उस कलाकार का, जो अपनी तूलिका से निराकार को साकार हुआ देखता है और उस कल्पनाकार का, जो अपनी कल्पना को अपने प्रयत्नों से प्राणवान् बना देखता है। चिरकाल से मेरा मन इस कल्पना से भरा था कि जैन आगमों का शोधपूर्ण सम्पादन हो और मेरे जीवन के बहुश्रमी क्षण उसमें लगें। संकल्प फलवान् बना और वैसा ही हुआ। मुझे केन्द्र मान मेरा धर्म-परिवार उस कार्य में संलग्न हो गया। अतः मेरे अन्तस्तोष में मैं उन सबको समभागी बनाना चाहता हूं, जो इस प्रवृत्ति में संविभागी रहे हैं। संक्षेप में वह संविभाग इस प्रकार है :

संपादक-विवेचक : मुनि नथमल
सहयोगी : मुनि श्रीचन्द्र 'कमल'
मुनि महेन्द्र कुमार 'द्वितीय'

संविभाग हमारा धर्म है। जिन-जिन ने इस गुरुतर प्रवृत्ति में उन्मुक्त भाव से अपना संविभाग समर्पित किया है, उन सबको मैं आशीर्वाद देता हूं और कामना करता हूं कि उनका भविष्य इस महान् कार्य का भविष्य बने।

—आचार्य तुलसी

सम्पादकीय

आचारांग सूत्र के महत्त्व की गाथा बचपन से सुन रहा था। उसके आकर्षण-बीज अज्ञात रूप में मेरे मन में अंकुरित थे। कुछ विदेशी विद्वानों का यह स्वर '**आचारांग सूत्र** का प्रथम श्रुतस्कन्ध भाषा और शैली की दृष्टि से सबसे प्राचीन है'—यदा-कदा कानों में आता रहता था। मन में अस्पष्ट आकांक्षा थी कि कभी उसका गंभीर अध्ययन करूं।

आज से लगभग १८ वर्ष पूर्व आचार्यश्री सरदारशहर में चातुर्मास बिता रहे थे। उस समय आचार्यश्री की सन्निधि में साधु-साध्वियों की गोष्ठी में कई दिनों तक मैंने **आचारांग सूत्र** पर वक्तव्य दिए। उससे मुझे स्वयं तथा श्रोता साधु-साध्वियों को भी **आचारांग** के महत्त्व की एक नई झलक मिली। वि० सं० २०२३ में आचार्यश्री के समक्ष **आचारांग** का आद्यंत वाचन प्रारंभ हुआ। उसमें चूर्णि और टीका से मुक्त रहकर स्वतंत्र अर्थ की प्रक्रिया भी चलती थी। हमारा प्रबुद्ध साधु-साध्वी वर्ग अपनी जिज्ञासाओं, तर्कों और समीक्षाओं के द्वारा उस वाचन को और अधिक गंभीर बना देता था। उस समय आचार्यश्री ने एक नया आयाम खोला था। आचारांग पाठी साधु-साध्वियों के लिए **आचारांग** पर लेख लिखना अनिवार्य था, इसलिए अध्ययन अधिक तलस्पर्शी और नए-नए दृष्टिकोणों का स्पर्श कर चल रहा था। उस समय अध्ययन-परायण साधु-साध्वी वर्ग जितना लाभान्वित हुआ, उससे कहीं अधिक मैं स्वयं लाभान्वित हुआ। मैं दूसरों को पाठ करा रहा था, किन्तु साथ-साथ आचार्यश्री की उपस्थिति में पाठ कर रहा था। मैं विद्यार्थी और पाठक के दोहरे दायित्व को निभा रहा था। उस स्थिति में **आचारांग** की अतल गहराइयों में निमज्जन के अनेक अवसर आए और मैंने उनमें से एक अवसर को भी खोया नहीं। उस समय मेरे मन में और साथ-साथ अन्य सभी साधु-साध्वियों के मन में **आचारांग** की वह महिमापूर्ण प्रतिमा उभरी जिसकी पहले कल्पना नहीं थी। हमारे कुछ मुनियों ने कहा—'हम सोचते थे कि हमारे आगमों में साधना के गंभीर सूत्र नहीं हैं। हमारी धारणा भ्रांत थी और अब वह भ्रांति टूट चुकी है।' उस समय आचार्यश्री ने एक स्वप्न संजोया कि **आचारांग** का साधनात्मक भाष्य हमें प्रस्तुत करना है। भगवान् महावीर

पचीसवीं निर्वाण शताब्दी का अवसर उपस्थित हुआ और उस निमित्त से **आचारांग** के अनुवाद का कार्य मैंने प्रारंभ किया। इस कार्य में प्रायः तीन वर्ष लगे। हमारे पहले के वाचन का आधार मेरे सामने था। बौद्ध ग्रंथ **विशुद्धिमग्ग**, पतंजलि के योगदर्शन तथा अन्य साधना-पद्धतियों का विशेष अनुशीलन किया और अपने साधना के अनुभवों का भी लाभ मिला। इन सबसे लाभ उठाकर **आचारांग** के साधना-रहस्यों को उद्घाटित करने में सफलता मिली। आचार्यश्री के सतत मार्ग-दर्शन, प्रेरणा, प्रोत्साहन और सम्यक्करण की भावना ने मेरा पथ सदा आलोकित किया। उस आलोक में मैं अपने लक्ष्य में निर्बाध आगे बढ़ सका।

इस अनुवाद कार्य में मुनि श्रीचन्द्रजी मेरे साथ रहे। वे केवल लिपिक ही नहीं थे, किन्तु समय-समय पर प्रश्न उपस्थित कर टिप्पण लिखने में मेरा सहयोग भी कर रहे थे। अन्य कार्य उपस्थित होने पर मैंने लिपिकार्य में विद्यार्थी मुनि राजेन्द्रजी को लगाया। वे भी तत्परता से यह कार्य करते रहे। तीसरे वर्ष में मैंने इस कार्य के लिए मुनि महेन्द्रकुमार जी (बी० एस-सी०) का सहयोग लिया। इस अवधि में हमारा कार्य वहुत द्रुत गति से चला। पचीसवीं निर्वाण शती का समय निकट आ रहा था। कार्य की तत्परता का एक निमित्त यह वना। दूसरा निमित्त वना मुनि महेन्द्रकुमार जी की तत्परता और जिज्ञासाओं का सातत्य। उन्होंने टिप्पणों की इतनी अपेक्षाएं मेरे सामने प्रस्तुत कर दीं कि मुझे मेरी कल्पना से वहुत अधिक टिप्पण लिखने पड़े। आचार्यश्री उनकी अपेक्षाओं का समर्थन करते रहे। इसलिए वह होना ही था। और, यह कार्य सम्पन्न हो गया। इसकी सम्पन्नता में मेरे अन्यतम सहयोगी मुनि दुलहराजजी मेरे अन्यान्य साहित्यिक कार्यों को संभालते रहे, इसलिए मैं इस कार्य में अधिक समय लगा सका।

मैं प्रस्तुत कार्य की सम्पन्नता में आचार्यश्री से प्राप्त महान् अनुदान के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूं। उन सवको, जिनका योग मुझे प्राप्त हुआ है, मैं साधुवाद समर्पित करता हूं। उनके अमूल्य योग का मूल्यांकन ही मैं कर सकता हूं।

आचार्यश्री तुलसी के वाचना-प्रमुखत्व में चल रहा आगम कार्य स्वयं महत्त्व-पूर्ण है। उसमें भी प्रस्तुत आगम के कार्य का पहला रूप अधिक महत्त्वपूर्ण होगा और भविष्य की संभावनाओं का आधार प्रस्तुत करेगा। इससे हमारा पथ आलोकित होगा और हम भगवान् महावीर के अनुभवों का साक्षात् कर उनके सान्निध्य का अनुभव कर सकेंगे।

अनुव्रत विहार
नई दिल्ली
४ नवम्बर १९७४

मुनि नथमल

भूमिका

आचारांग सूत्र आत्म-जिज्ञासा से प्रारंभ होता है। **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** जैसे वेदान्त का मूल सूत्र है, वैसे ही, **'अथातो आत्मजिज्ञासा'** जैन दर्शन का मूल सूत्र है। आत्मा है, वह नित्यानित्य है, वह कर्त्ता और भोक्ता है। बन्ध है, और उसके हेतु हैं। मोक्ष है और उसके हेतु हैं। ये सब आचार-शास्त्र के आधारभूत तत्त्व हैं। प्रस्तुत आगम में ये सब चर्चित हैं, इसलिए यह आचार-शास्त्र है।

जैन दर्शन केवल ज्ञान और आचार को मान्य नहीं करता। उसके अनुसार ज्ञान और आचार दोनों समन्वित होकर ही मोक्ष के हेतु बनते हैं।[1] इसलिए ज्ञान से आचार को और आचार से ज्ञान को पृथक् नहीं किया जा सकता। प्रस्तुत आगम में मुख्य रूप से आचार वर्णित है, इसलिए यह आचार-शास्त्र है।

भगवान् महावीर ने आचार का निरूपण व्यापक अर्थ में किया है। उनके अनुसार आचार के पांच प्रकार हैं—ज्ञान आचार, दर्शन आचार, चरित्र आचार, तप आचार और वीर्य आचार। इस निरूपण के अनुसार आचार ज्ञान, दर्शन और चरित्र सबका स्पर्श करता है, इसलिए यह मोक्ष का सम्यक् उपाय है। **आचारांग सूत्र** में मोक्ष का उपाय वर्णित है इसलिए इसे समग्र प्रवचन का सार कहा गया है।[2]

भगवान् महावीर के आचार-दर्शन का आधार समता है। जो प्राणी-मात्र में समत्व का अनुभव करता है तथा लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निंदा-प्रशंसा, मान-अपमान आदि द्वंद्वात्मक परिस्थितियों में समत्व का अनुभव करता है, वह अनाचार का सेवन नहीं करता—

समत्तदंसी ण करेति पावं।[3]

हजारों वर्ष पहले से कर्म-संन्यास और कर्म-योग की चर्चा होती रही है। हर धर्म ने मात्रा-भेद से कर्म को छोड़ने और कर्म करने की बात कही है। **गीता** में

---

१. सूयगडो, १।१२।११ : आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खो।

२. आचारांगनिर्युक्ति, गाथा ६ :

इत्थ य मोक्खोवाओ एस य सारो पवयणस्स।

३. आयारो, ३।२८।

वास्तविकता की एक स्पष्ट स्वीकृति है कि देहधारी सब कर्मों को छोड़ नहीं सकता—

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।[1]

शरीर और कर्म का अनिवार्य योग है। इस स्थिति में कर्म-त्याग की बात एक सीमित अर्थ में हो सकती है। फिर त्याग किसे माना जाए ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए त्याग की कसौटियां निश्चित की गईं। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार असंयममय कर्म को छोड़ना त्याग है।[2] **गीता** के अनुसार आसक्ति और कर्म-फल को छोड़ना त्याग है।[3]

राग-द्वेष-युक्त भाव से कर्म करना और फलाशंसा रखना—ये दोनों असंयम हैं। अतः **आचारांग** और **गीता** द्वारा अभिमत त्याग की कसौटी में शाब्दिक भिन्नता होने पर भी आर्थिक भिन्नता नहीं है। इस अभिन्नता के होने पर भी दोनों के आधार पर दो भिन्न परम्पराएं विकसित हुई हैं। **गीता** के आधार पर विकसित परम्परा में कर्म करने के पक्ष पर बल दिया जाता है। अनासक्ति और फल-त्याग की बात उतनी प्रबल दिखाई नहीं देती। **आचारांग** के आधार पर विकसित परम्परा में कर्म न करने के पक्ष पर बल दिया जाता है। राग-द्वेष और आशंसा-त्याग की बात उतनी प्रबल दिखाई नहीं देती। इस प्रकार दोनों परम्पराएं दो दिशाओं में विकसित हुईं, किन्तु दोनों की समान दिशा का बिन्दु शाब्दिक भिन्नता में ओझल हो गया।

भगवान् महावीर ने प्रथम चरण में ही कर्म को त्याग देने की असंभव बात नहीं कही। उन्होंने कर्म-शोधन की दिशा प्रदर्शित की। उसका स्पष्ट दर्शन **आचारांग चूला** के निम्न निर्दिष्ट श्लोकों में मिलता है :[4]

---

१. गीता, १८।११ ।

२. आयारो, १।७ :

एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवंति ।

३. गीता, १८।९ :

कार्यमित्येव यत्कर्म, नियतं क्रियतेऽर्जुन ! ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव, स त्यागः सात्त्विको मतः ॥

४. आयारचूला, १५।७२-७६

ण सक्का ण सोउं सद्दा, सोयविसयमागता ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जइ ॥
णो सक्का रूवमदट्ठुं चक्खुविसयमागयं ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥
णो सक्का ण गंधमग्घाउं, णासाविसयमागयं ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥

'श्रोत्र के विषय में आए हुए शब्दों को न सुनना शक्य नहीं है। किन्तु उनके प्रति होने वाले राग-द्वेष का त्याग शक्य है। इसलिए भिक्षु उनमें राग से रंजित और द्वेष से दूषित न हो। इसी प्रकार चक्षु के विषय में आने वाले रूपों को न देखना, घ्राण के विषय में आने वाली गंध का अनुभव न होना, जिह्वा के विषय में आने वाले रस का आस्वाद न होना, स्पर्शन के विषय में आने वाले स्पर्शों का संवेदन न होना शक्य नहीं है, किन्तु उनके प्रति राग-द्वेष न करना शक्य है। इस लिए भिक्षु विषयों के प्रति राग-द्वेष न करे।'

राग-द्वेष रहित कर्म ही आचार है। सूत्रकार ने राग-द्वेष युक्त कर्म का परित्याग करने वाले को ज्ञानी कहा है।[1] भगवान् महावीर ने इस वीतरागता-मूलक आचार के अनेक रूपों का प्रतिपादन किया। उनमें पहला रूप है---अहिंसा। प्रथम अध्ययन में उसका विस्तार से प्रतिपादन किया है। अगले अध्ययनों में वृत्तियों की अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, अनासक्ति, सत्य आदि के विषय में अनेक निर्देश दिए हैं। इस आचार-शास्त्र को दूसरे शब्दों में समता का शास्त्र कहा जा सकता है।

भगवान् महावीर समता के शास्ता थे। उन्होंने समता के शासन द्वारा जीवन के रूपान्तरण की दिशा प्रदर्शित की। उन्होंने इस शासन को आरोपित नहीं किया किन्तु उसे स्वीकृत करने के लिए व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता दी। भगवान् ने कहा—देखो ! जो द्रष्टा होता है, उसके लिए उपदेश आवश्यक नहीं होता।[2] जो द्रष्टा होता है वह समग्र वस्तु-समूह को दूसरे दृष्टिकोण से देखने लग जाता है—

अण्णहा णं पासए परिहरेज्जा।[3]

समता के द्वारा जीवन के रूपान्तरण की प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत आगम को अनुवाद और टिप्पण-सहित भगवान् महावीर की इस २५ वीं निर्वाण-शताब्दी के अवसर पर जनता के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए मुझे अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव हो रहा है।

—आचार्य तुलसी

णो सक्का रसमणासाउं, जीहाविसयमागयं।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥
णो सक्का ण संवेदेउं, फासविसयमागयं।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥

१. आयारो, १।१२ :
जस्सेते लोगंसि कम्म-समारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे।

२. आयारो, २।८५ :
उद्देसो पासगस्स णत्थि।

३. आयारो, २।११८।

विषयानुक्रम

पढमं अज्झयणं

सत्थ परिण्णा

प्रथम अध्ययन

शस्त्र-परिज्ञा

पढमो उद्देसो

अप्पणो अत्थित्त-पदं

१. सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इहमेगेसिं नो सण्णा भवइ, तंजहा—
पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
अहे वा दिसाओ अगओ अहमंसि,
अण्णयरीओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि।

२. एवमेगेसिं णो णातं भवति—
अत्थि मे आया ओववाइए,
णत्थि मे आया ओववाइए,
के अहं आसी ?
के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि ?

३. सेज्जं पुण जाणेज्जा—
सहसम्मुइयाए,
परवागरणेणं,
अण्णेसिं वा अंतिए सोच्चा, तं जहा—
पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,

प्रथम उद्देशक

आत्मा का अस्तित्व

१. आयुष्मन् ! मैंने सुना है। भगवान् ने यह कहा—इस जगत् में कुछ [मनुष्यों]
को यह संज्ञा नहीं होती, जैसे—
मैं पूर्व दिशा से आया हूं,
अथवा दक्षिण दिशा से आया हूं,
अथवा पश्चिम दिशा से आया हूं,
अथवा उत्तर दिशा से आया हूं,
अथवा ऊर्ध्व दिशा से आया हूं,
अथवा अधो दिशा से आया हूं,
अथवा किसी अन्य दिशा से आया हूं
अथवा अनुदिशा से आया हूं।[1]

२. इसी प्रकार कुछ [मनुष्यों] को यह ज्ञात नहीं होता—
मेरी आत्मा पुनर्जन्म नहीं लेने वाली है।
अथवा मेरी आत्मा पुनर्जन्म लेने वाली है।
मैं [पिछले जन्म में] कौन था?
मैं यहां से च्युत होकर अगले जन्म में क्या होऊंगा?[2]

३. कोई [मनुष्य]
१. पूर्वजन्म की स्मृति से,
२. पर (प्रत्यक्ष ज्ञानी) के निरूपण से, अथवा
३. अन्य (प्रत्यक्ष ज्ञानी के द्वारा श्रुत व्यक्ति) के पास सुनकर, यह जान लेता है, जैसे—
मैं पूर्व दिशा से आया हूं,

दक्खिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
अहे वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
अण्णयरीओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि ।

४. एवमेगेसिं जं णातं भवइ—अत्थि मे आया ओववाइए । जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ जो आगओ अणुसंचरइ सोहं ।

५. से आयावाई, लोगावाई, कम्मावाई, किरियावाई ।

आस्रव-पदं

६. अकरिस्सं चहं, कारवेसुं चहं, करओ यावि समणुण्णे भविस्सामि ।

संवर-पदं

७. एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्म-समारंभा परिजाणियव्वा भवंति ।

आस्रव-परिणाम-पदं

८. अपरिण्णाय-कम्मे खलु अयं पुरिसे,

अथवा दक्षिण दिशा से आया हूं,
अथवा पश्चिम दिशा से आया हूं,
अथवा उत्तर दिशा से आया हूं,
अथवा ऊर्ध्व दिशा से आया हूं,
अथवा अधो दिशा से आया हूं,
अथवा किसी अन्य दिशा से आया हूं,
अथवा अनुदिशा से आया हूं।[३]

४. इसी प्रकार कुछ [मनुष्यों] को यह ज्ञात होता है—
मेरी आत्मा पुनर्जन्म लेने वाली है,
जो इन दिशाओं और अनुदिशाओं में अनुसंचरण करती है; जो सब दिशाओं और सब अनुदिशाओं से आकर अनुसंचरण करता है, वह मैं हूं।[४]

५. [जो अनुसंचरण को जान लेता है] वही आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी है।[५]

आश्रव

६. मैंने क्रिया की थी, करवाई थी [और करने वाले का अनुमोदन किया था।
मैं क्रिया करता हूं, करवाता हूं और करने वाले का अनुमोदन करता हूं।
मैं क्रिया करूंगा, करवाऊंगा] और करने वाले का अनुमोदन करूंगा।[६]

संवर

७. लोकों† में [होने वाले] ये सब कर्म-समारम्भ परिज्ञातव्य होते हैं—जानने और त्यागने योग्य होते हैं।[७]

आश्रव के परिणाम

८. यह पुरुष, जो क्रिया को नहीं जानता और नहीं त्यागता, वही इन दिशाओं

† इस प्रसंग में लोक का अर्थ असंयत लोक है।

जो इमाओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ,
सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ सहेति,
अणेगरूवाओ जोणीओ संधेइ,
विरूवरूवे फासे य पडिसंवेदेइ।

कम्म-सोय-पदं

९. तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया।

१०. इमस्स चेव जीवियस्स,
परिवंदण-माणण-पूयणाए,
जाई-मरण-मोयणाए,
दुक्खपडिघायहेउं।

संवर-साहणा-पदं

११. एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्म-समारंभा परिजाणियव्व
भवंति।

१२. जस्सेते लोगंसि कम्म-समारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुण
परिण्णाय-कम्मे।

—त्ति बेमि

बीओ उद्देसो

अण्णाण-पदं

११. अट्टे लोए परिजुण्णे, दुस्संबोहे अविजाणए।

या अनुदिशाओं में अनुसंचरण करता है; (अपने कृत-कर्मों के) साथ सब दिशाओं और सब अनुदिशाओं में जाता है; अनेक प्रकार की योनियों का संधान करता है; और नाना प्रकार के स्पर्शों (आघातों) का प्रतिसंवेदन करता है—अनुभव करता है।[६]

प्रवृत्ति के स्रोत

९. इस विषय (कर्म-समारम्भ) में भगवान् ने परिज्ञा (विवेक) का निरूपण किया है।

१०. वर्तमान जीवन के लिए,
प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए,
जन्म, मरण और मोचन के लिए,
दुःख-प्रतिकार के लिए,
[मनुष्य कर्म-समारम्भ करता है।][७]

संवर-साधना

११. लोक में [होने वाले] ये सब कर्म-समारम्भ परिज्ञातव्य होते हैं—जानने और त्यागने योग्य होते हैं।

१२. लोक में [होने वाले] ये कर्म-समारम्भ जिसके परिज्ञात होते हैं, वही परिज्ञात-कर्मा [कर्म-त्यागी] मुनि होता है।

—ऐसा मैं कहता हूं।[८]

द्वितीय उद्देशक

अज्ञान

१३. [जो] मनुष्य [विषय-वासना से] पीड़ित है, [वह] ज्ञान और दर्शन से दरिद्र है। वह [सत्य को] [illegible] नहीं पाता, [अतः] [illegible] बना रहता है।

१४. अस्सिं लोए पव्वहिए।

पुढविकाइयहिंसा-पदं

१५. तत्थ तत्थ पुढो पास, आतुरा परितावेंति।

१६. संति पाणा पुढोसिया।
१७. लज्जमाणा पुढो पास।

१८. अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा।

१९. जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढवि-कम्म-समारंभेणं पुढविसत्थं समारंभेमाणे अण्णे वणेगरूवे पाणे विहिंसति।

२०. तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया।
२१. इमस्स चेव जीवियस्स,
परिवंदण-माणण-पूयणाए,
जाई-मरण- मोयणाए,
दुक्खपडिघायहेउं।
२२. से सयमेव पुढवि-सत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा पुढवि-सत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा पुढवि-सत्थं समारंभंते समणुजाणइ।
२३. तं से अहियाए, तं से अबोहीए।

२४. से तं संबुज्झमाणे, आयाणीयं समुट्ठाए।

१४. [अज्ञानी मनुष्य] इस लोक में व्यथा का अनुभव कर रहा है।

पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा

१५. तू देख ! आतुर मनुष्य स्थान-स्थान पर [पृथ्वीकायिक× प्राणियों को] परिताप दे रहे हैं।[९]

१६. (पृथ्वीकायिक) प्राणी पृथक्-पृथक् शरीरों में आश्रित हैं।[१०]

१७. तू देख !प्रत्येक [संयमी साधक हिंसा से विरत हो] संयम का जीवन जी रहा है।

१८. [और तू देख !] कुछ साधु 'हम गृहत्यागी हैं' यह निरूपित करते हुए भी [गृहवासी जैसा आचरण करते हैं—पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करते हैं।]

१९. वह नाना प्रकार के शस्त्रों से पृथ्वी-सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करता है; (वह केवल उन पृथ्वीकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु) नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है।[११]

२०. इस विषय में भगवान् ने परिज्ञा (विवेक) का निरूपण किया है।

२१. वर्तमान जीवन के लिए,
प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए,
जन्म, मरण और मोचन के लिए,
दु:ख-प्रतिकार के लिए।

२२. कोई साधक स्वयं पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है या करने वालों का अनुमोदन करता है।

२३. वह (हिंसा) उसके अहित के लिए होती है;
वह (हिंसा) उसकी अबोधि के लिए होती है।[१२]

२४. वह (संयमी साधक) उसे (हिंसा के परिणाम को) समीचीन दृष्टि से समझकर संयम की साधना में सावधान हो जाता है।

× विरोधी शस्त्र (देखें, टिप्पण सूत्र १९) से अनाक्रान्त पृथ्वी, पर्वत या खनिज धातुओं के जीव पृथ्वीकायिक जीव कहलाते हैं। पृथ्वी आदि का निर्माण इन जीवों से ही होता है। केवल वही पृथ्वी या मिट्टी निर्जीव होती है, जिसके जीव किसी विरोधी द्रव्य के योग से च्युत हो जाते हैं।

२५. सोच्चा खलु भगवओ अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णातं भवति—एस खलु गंथे,
एस खलु मोहे,
एस खलु मारे,
एस खलु णरए।

२६. इच्चत्थं गढिए लोए।

२७. जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढवि-कम्म-समारंभेणं पुढवि-सत्थं समारंभेमाणे अण्णे वणेगरूवे पाणे विहिंसइ।

पुढविकाइयाणं जीवत्त-वेदणाबोध-पदं

२८. से बेमि—अप्पेगे अंधमब्भे, अप्पेगे अंधमच्छे।

२९. अप्पेगे पायमब्भे, अप्पेगे पायमच्छे,
अप्पेगे गुप्फमब्भे, अप्पेगे गुप्फमच्छे,
अप्पेगे जंघमब्भे, अप्पेगे जंघमच्छे,
अप्पेगे जाणुमब्भे, अप्पेगे जाणुमच्छे,
अप्पेगे ऊरुमब्भे, अप्पेगे ऊरुमच्छे,
अप्पेगे कडिमब्भे, अप्पेगे कडिमच्छे,
अप्पेगे णाभिमब्भे, अप्पेगे णाभिमच्छे,
अप्पेगे उयरमब्भे, अप्पेगे उयरमच्छे,
अप्पेगे पासमब्भे, अप्पेगे पासमच्छे,
अप्पेगे पिट्ठमब्भे अप्पेगे पिट्ठमच्छे,
अप्पेगे उरमब्भे, अप्पेगे उरमच्छे,

२५. भगवान् या गृहत्यागी मुनियों के समीप सुनकर कुछ मनुष्यों को यह ज्ञात हो जाता है—
यह (पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा) ग्रन्थि है,[13]
यह मोह है,
यह मृत्यु है,
यह नरक है।

२६. [फिर भी] मनुष्य जीवन आदि के लिए [पृथ्वीकायिक जीवनिकाय की हिंसा में] आसक्त होता है।

२७. वह नाना प्रकार के शस्त्रों से पृथ्वी-सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करता है; [वह केवल उन पृथ्वीकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु] नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है।

पृथ्वीकायिक जीव का जीवत्व और वेदना-बोध

२८. मैं कहता हूं—
[पृथ्वीकायिक जीव जन्मना इन्द्रिय-विकल (अंध, बधिर, मूक, पंगु और अवयव-हीन) मनुष्य की भांति अव्यक्त चेतना वाला होता है।] शस्त्र से भेदन-छेदन करने पर जैसे जन्मना इन्द्रिय-विकल मनुष्य को [कष्टानुभूति होती है, वैसे ही पृथ्वीकायिक जीव को होती है][14]

अप्पेगे हिययमब्भे, अप्पेगे हिययमच्छे,
अप्पेगे थणमब्भे, अप्पेगे थणमच्छे,
अप्पेगे खंधमब्भे, अप्पेगे खंधमच्छे,
अप्पेगे बाहुमब्भे, अप्पेगे बाहुमच्छे,
अप्पेगे हत्थमब्भे, अप्पेगे हत्थमच्छे,
अप्पेगे अंगुलिमब्भे, अप्पेगे अंगुलिमच्छे,
अप्पेगे णहमब्भे, अप्पेगे णहमच्छे,
अप्पेगे गीवमब्भे अप्पेगे गीवमच्छे,
अप्पेगे हणुयमब्भे, अप्पेगे हणुयमच्छे,
अप्पेगे होट्ठमब्भे, अप्पेगे होट्ठमच्छे,
अप्पेगे दंतमब्भे, अप्पेगे दंतमच्छे,
अप्पेगे जिब्भमब्भे, अप्पेगे जिब्भमच्छे,
अप्पेगे तालुमब्भे, अप्पेगे तालुमच्छे,
अप्पेगे गलमब्भे, अप्पेगे गलमच्छे,
अप्पेगे गंडमब्भे, अप्पेगे गंडमच्छे,
अप्पेगे कण्णमब्भे, अप्पेगे कण्णमच्छे,
अप्पेगे णासमब्भे, अप्पेगे णासमच्छे,
अप्पेगे अच्छिमब्भे, अप्पेगे अच्छिमच्छे,
अप्पेगे भमुहमब्भे, अप्पेगे भमुहमच्छे,
अप्पेगे णिडालमब्भे, अप्पेगे णिडालमच्छे,
अप्पेगे सीसमब्भे, अप्पेगे सीसमच्छे ।

३०. अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उद्दवए ।

हिंसाविवेग-पदं

३१. एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवंति

२९. (इन्द्रिय-सम्पन्न मनुष्य के) पैर, टखने, जंघा, घुटने, ऊरु, कटि, नाभि, उदर, पार्श्व, पीठ, छाती, हृदय, स्तन, कन्धे, भुजा, हाथ, उंगली, नख, ग्रीवा, ठुड्डी, होठ, दांत, जीभ, तालु, गले, कपोल, कान, नाक, आंख, भौंह, ललाट और सिर का शस्त्र से भेदन-छेदन करने पर (उसे, 'प्रकट करने में' अक्षम कष्टानुभूति होती है, वैसे ही पृथ्वीकायिक जीव को होती है)।[१४]

३०. मनुष्य को मूर्च्छित करने या उसका प्राण-वियोजन करने पर (उसे कष्टानुभूति होती है, वैसे ही पृथ्वीकायिक जीव को होती है)।[१५]

हिंसा-विवेक

३१. जो पृथ्वीकायिक जीव पर शस्त्र का समारंभ (प्रयोग) करता है, वह इन आरम्भों (तत्सम्बन्धी व तदाश्रित जीव-हिंसा की प्रवृत्ति) से बच नहीं पाता।

३२. एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाता भवंति।

३३. **तं परिण्णाय मेहावी** नेव सयं पुढवि-सत्थं समारंभेज्जा, नेवण्णेहिं पुढवि-सत्थं समारंभावेज्जा, नेवण्णे पुढवि-सत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा।

३४. जस्सेते पुढवि-कम्म-समारंभा परिण्णाता भवंति, से हु मुणी परिण्णात-कम्मे।

—त्ति बेमि।

तइओ उद्देसो

समप्पण-पदं

३५. से बेमि—से जहावि अणगारे उज्जुकडे, णियागपडिवण्णे अमायं कुव्वमाणे वियाहिए।

३६. जाए सद्धाए णिक्खंतो, तमेव अणुपालिया। विजहित्तु विसोत्तियं।

३७. पणया वीरा महावीहिं।

आउकाइयाणं अत्थित्त-अभयदाण-पदं

३८. लोगं च आणाए अभिसमेच्चा अकुतोभयं।

३२. जो पृथ्वीकायिक जीव पर शस्त्र का समारम्भ नहीं करता, वह इन आरम्भों (तत्सम्बन्धी व तदाश्रित जीव-हिंसा की प्रवृत्ति) से मुक्त हो जाता है।

३३. यह जानकर मेधावी मनुष्य स्वयं पृथ्वी-शस्त्र का समारंभ न करे, दूसरों से उसका समारम्भ न करवाए, उसका समारम्भ करने वालों का अनुमोदन न करे।

३४. जिसके पृथ्वी-सम्बन्धी कर्म-समारम्भ परिज्ञात होते हैं, वही परिज्ञात-कर्मा (कर्म-त्यागी) मुनि होता है।

—ऐसा मैं कहता हूं।

तृतीय उद्देशक

लक्ष्य के प्रति समर्पण

३५. मैं कहता हूं—जिस [आचरण] से अनगार होता है और जिस [आचरण] से अनगार नहीं होता। जिसका आचरण ऋजु होता है, जो बुद्धि के पथ पर चलता है और जो माया नहीं करता (शक्ति का गोपन नहीं करता) वह अनगार होता है। [इसके विपरीत आचरण करने वाला अनगार नहीं होता]।[15]

३६. वह जिस श्रद्धा से अभिनिष्क्रमण करे, उसी श्रद्धा को [illegible] रखे, चित्त की चंचलता के स्रोत में न बहे।[16]

३७. वीर पुरुष महापथ के प्रति प्रणत (समर्पित) हो चुके हैं।[17]

जलकायिक जीवों का अस्तित्व और [illegible]

३८. मुनि जलकायिक लोक को [illegible] अकुतोभय बना दे—[illegible]

३९. से बेमि—णेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा।
जे लोयं अब्भाइक्खइ, से अत्ताणं अब्भाइक्खइ।
जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ, से लोयं अब्भाइक्खइ।

आउकाइयहिंसा-पदं

४०. लज्जमाणा पुढो पास।

४१. अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा।

४२. जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदय-कम्म-समारंभेणं उदय-सत्थं समारंभमाणे अण्णे वणेगरूवे पाणे विहिंसति।

४३. तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेदिता।

४४. इमस्स चेव जीवियस्स,
परिवंदण-माणण-पूयणाए,
जाई-मरण-मोयणाए,
दुक्खपडिघायहेउं।

४५. से सयमेव उदय-सत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा उदय-सत्थं समारंभावेति, अण्णे वा उदय-सत्थं समारंभंते समणुजाणति।

४६. तं से अहियाए, तं से अबोहीए।

४७. से तं संबुज्झमाणे, आयाणीयं समुट्ठाए।

३९. मैं कहता हूं—
वह [जलकायिक] लोक [के अस्तित्व] को अस्वीकार न करे और न अपनी आत्मा को अस्वीकार करे। जो [जलकायिक] लोक [के अस्तित्व] को अस्वीकार करता है, वह अपनी आत्मा को अस्वीकार करता है। जो अपनी आत्मा को अस्वीकार करता है, वह [जलकायिक] लोक [के अस्तित्व] को अस्वीकार करता है।[१८]

जलकायिक जीवों की हिंसा

४०. तू देख ! प्रत्येक [संयमी साधक] हिंसा से विरत हो संयम का जीवन जी रहा है।

४१. [और तू देख !] कुछ साधु 'हम गृहत्यागी हैं' यह निरूपित करते हुए भी [गृहवासी जैसा आचरण करते हैं—जलकायिक जीवों की हिंसा करते हैं।]

४२. वह नाना प्रकार के शस्त्रों से जल-सम्बन्धी क्रिया में व्याप्त होकर जलकायिक जीवों की हिंसा करता है; [वह केवल उन जलकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु] नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है।

४३. इस विषय में भगवान् ने परिज्ञा (विवेक) का निरूपण किया है।

४४. वर्तमान जीवन के लिए,
प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए,
जन्म-मरण और मोचन के लिए,
दुःख-प्रतिकार के लिए—

४५. कोई साधक स्वयं जलकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है या करने वालों का अनुमोदन करता है।

४६. वह हिंसा उसके अहित के लिए होती है;
वह हिंसा उसकी अबोधि के लिए होती है।

४७. वह (संयमी साधक) उसे (हिंसा के परिणाम को) [illegible] समझकर संयम की साधना में सावधान हो जाता है।

४८. सोच्चा खलु भगवओ अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति—
एस खलु गंथे,
एस खलु मोहे,
एस खलु मारे,
एस खलु णरए ।

४९. **इच्चत्थं गढिए लोए ।**

५०. जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदय-कम्म-समारंभेणं उदय-सत्थं समारंभमाणे अण्णे वणेगरूवे पाणे विहिंसति ।

आउकाइयाणं जीवत्त-वेदणाबोध-पदं

५१. से बेमि—अप्पेगे अंधमब्भे, अप्पेगे अंधमच्छे ।

५२. अप्पेगे पायमब्भे, अप्पेगे पायमच्छे ।†

५३. अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उद्दवए ।

हिंसाविवेग-पदं

५४. से बेमि—संति पाणा उदय-निस्सिया जीवा अणेगा ।

† पूर्णपाठार्थं द्रष्टव्यम् १।२९ ।

४८. भगवान् या गृहत्यागी मुनियों के समीप सुनकर कुछ मनुष्यों को यह ज्ञात हो जाता है—
यह [जलकायिक जीवों की हिंसा] ग्रन्थि है,
यह मोह है,
यह मृत्यु है,
यह नरक है।

४९. [फिर भी] मनुष्य जीवन आदि के लिए [जलकायिक जीव-निकाय की हिंसा में] आसक्त होता है।

५०. वह नाना प्रकार के शस्त्रों से जल-सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर जलकायिक जीवों की हिंसा करता है; [वह केवल उन जलकायिक जीवों की हिंसा नहीं करता, किन्तु] नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है।

जलकायिक जीव का जीवत्व और वेदना-बोध

५१. मैं कहता हूं—
[जलकायिक जीव जन्मना इन्द्रिय-विकल (अंध, बधिर, मूक, पंगु और अवयव-हीन) मनुष्य की भांति अव्यक्त चेतना वाला होता है।]
शस्त्र से भेदन-छेदन करने पर जैसे जन्मना इन्द्रिय-विकल मनुष्य को [कष्टानुभूति होती है, वैसे ही जलकायिक जीव को होती है।]

५२. [इन्द्रिय-सम्पन्न मनुष्य के] पैर आदि (द्रष्टव्य, १।२९) का शस्त्र से भेदन-छेदन करने पर [उसे प्रकट करने में अक्षम कष्टानुभूति होती है, वैसे ही जलकायिक जीव को होती है।]

५३. मनुष्य को मूर्च्छित करने या उसका प्राण-वियोजन करने पर [उसे कष्टानुभूति होती है, वसे ही जलकायिक जीव को होती है]।

हिंसा-विवेक

५४. मैं कहता हूं—
जल के आश्रय में अनेक प्राणधारी जीव हैं। [—यह सब दार्शनिक स्वीकार करते हैं, किन्तु]—"

५५. इहं च खलु भो ! अणगाराणं उदय-जीवा वियाहिया ।

५६. सत्थं चेत्थ अणुवीइ पासा ।

५७. पुढो सत्थं पवेइयं ।

५८. अदुवा अदिण्णादाणं ।

५९. कप्पइ णे, कप्पइ णे पाउं, अदुवा विभूसाए ।

६०. पुढो सत्थेहिं विउट्टंति ।

६१. एत्थवि तेसिं णो णिकरणाए ।

६२. एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति ।

६३. एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति ।

६४. **तं परिण्णाय मेहावी** णेव सयं उदय-सत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं उदय-सत्थं समारंभावेज्जा, उदय-सत्थं समारंभंतेवि अण्णे ण समणुजाणेज्जा ।

५५. हे पुरुष ! इस अनगार-दर्शन (अर्हत्-दर्शन) में जल स्वयं जीव रूप में निरूपित है ।[१९]

५६. [हे पुरुष !] इन जलकायिक जीवों के शस्त्र का अनुचिन्तन कर और (उन्हें) देख ।[२०]

५७. भगवान् ने कहा—जलकायिक जीवों के शस्त्र नाना हैं । [उनका प्रयोग करना हिंसा है ।][२१]

५८. अथवा वह अदत्तादान है ।[२२]

५९. [आजीविकों और शैवों का मत है—] हम अपने सिद्धान्त के अनुसार पीने के लिए जल ले सकते हैं, भलीभांति ले सकते हैं ।
[बौद्धों का मत है—] हम अपने सिद्धान्त के अनुसार पीने और नहाने (विभूषा) दोनों के लिए जल ले सकते हैं ।[२३]

६०. वे [अपने शास्त्र का प्रामाण्य देकर] नाना प्रकार के शस्त्रों द्वारा [जलकायिक जीवों की] हिंसा करते हैं ।[२४]

६१. सिद्धान्त का प्रामाण्य देकर जलकायिक जीवों की हिंसा करने वाले साधु हिंसा से सर्वथा विरत नहीं हो पाते (—उनके हिंसा न करने का संकल्प परिपूर्ण नहीं हो पाता) ।

६२. जो जलकायिक जीव पर शस्त्र का समारम्भ (प्रयोग) करता है, वह इन आरम्भों (तत्सम्बन्धी व तदाश्रित जीव-हिंसा की प्रवृत्ति) से बच नहीं पाता ।

६३. जो जलकायिक जीव पर शस्त्र का समारम्भ नहीं करता, वह इन आरम्भों (तत्सम्बन्धी व तदाश्रित जीव-हिंसा की प्रवृत्ति) से मुक्त हो जाता है ।

६४. यह जानकर मेधावी मनुष्य स्वयं जल-शस्त्र का समारम्भ न करे, दूसरों से उसका समारम्भ न करवाए, उसका समारम्भ करने वालों का अनुमोदन न करे ।

६५. जस्सेते उदय-सत्थ-समारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णात-कम्मे ।

—त्ति बेमि ।

चउत्थो उद्देसो

तेउकाइयाणं अत्थित्त-पदं

६६. 'से बेमि'—णेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा ।
जे लोगं अब्भाइक्खइ, से अत्ताणं अब्भाइक्खइ,
जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ, से लोगं अब्भाइक्खइ ।

६७. जे दीहलोग-सत्थस्स खेयण्णे, से असत्थस्स खेयण्णे ।
जे असत्थस्स खेयण्णे, से दीहलोग-सत्थस्स खेयण्णे ।

६८. **वीरेहिं एयं अभिभूय दिट्ठं,** संजतेहिं सया जतेहिं सया अप्पमत्तेहिं ।

तेउकाइयहिंसा-पदं

६९. जे पमत्ते गुणट्ठिए, से हु दंडे पवुच्चति ।

६५. जिसके जल-सम्बन्धी कर्म-समारम्भ परिज्ञात होते हैं, वही परिज्ञात-कर्मा (कर्म-त्यागी) मुनि होता है।

—ऐसा मैं कहता हूं।

चतुर्थ उद्देशक

अग्निकायिक जीवों का अस्तित्व

६६. मैं कहता हूं—

वह [अग्निकायिक] लोक के अस्तित्व को अस्वीकार न करे और न अपनी आत्मा को अस्वीकार करे।

जो [अग्निकायिक] लोक के अस्तित्व को अस्वीकार करता है, वह अपनी आत्मा को अस्वीकार करता है।

जो अपनी आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करता है, वह [अग्निकायिक] लोक के अस्तित्व को अस्वीकार करता है।

६७. जो अग्नि-शस्त्र के स्वरूप को जानता है, वह संयम को जानता है। जो संयम को जानता है, वह अग्नि-शस्त्र के स्वरूप को जानता है।

६८. उन [मुनियों] ने [ज्ञान और दर्शन के आवरण का] विलय कर इस (अग्निकायिक जीवों के अस्तित्व) को देखा है,

जो वीर हैं—साधना के विघ्नों को निरस्त करने के लिए पराक्रमी हैं,

जो संयमी हैं—इन्द्रिय और मन का निग्रह करने वाले हैं,

जो सदा यमी हैं—क्रोध आदि का निग्रह करने वाले हैं,

जो सदा अप्रमत्त हैं—मादकता उत्पन्न करने वाली प्रवृत्तियों के प्रति जागरूक हैं।[५]

अग्निकायिक जीवों की हिंसा

६९. जो प्रमत्त है, [पाचन, प्रकाश ताप आदि] अग्नि-गुणों का अर्थी है, वह हिंसक कहलाता है।

७०. तं परिण्णाय मेहावी इयाणिं णो जमहं पुव्वमकासी पमाएणं।

७१. लज्जमाणा पुढो पास।

७२. अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा।

७३. जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणि-कम्म-समारंभेणं अगणि-सत्थं समारंभमाणे, अण्णे वणेगरूवे पाणे विहिंसति।

७४. तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया।

७५. इमस्स चेव जीवियस्स,
परिवंदण-माणण-पूयणाए,
जाई-मरण-मोयणाए,
दुक्खपडिघायहेउं।

७६. से सयमेव अगणि-सत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा अगणि-सत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा अगणि-सत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ।

७७. तं से अहियाए, तं से अबोहीए।

७८. से तं संबुज्झमाणे, **आयाणीयं समुट्ठाए।**

७०. यह जानकर मेधावी पुरुष [संकल्प करे—]
'अब मैं वह नहीं करूंगा, जो मैंने प्रमादवश पहले किया है।'

७१. तू देख ! प्रत्येक [संयमी साधक हिंसा से विरत हो] संयम का जीवन जी रहा है।

७२. [और तू देख !] कुछ साधु, 'हम गृहत्यागी हैं' यह निरूपित करते हुए भी [गृहवासी जैसा आचरण करते हैं—अग्निकायिक जीवों की हिंसा करते हैं।]

७३. वह नाना प्रकार के शस्त्रों से अग्नि-सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर अग्निकायिक जीवों की हिंसा करता है; [वह केवल उन अग्निकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु] नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है।[२९]

७४. इस विषय में भगवान् ने परिज्ञा (विवेक) का निरूपण किया है।

७५. वर्तमान जीवन के लिए,
प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए,
जन्म, मरण और मोचन के लिए,
दुःख-प्रतिकार के लिए—

७६. कोई साधक स्वयं अग्निकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है या करने का अनुमोदन करता है।

७७. वह (हिंसा) उसके अहित के लिए होती है;
वह (हिंसा) उसकी अबोधि के लिए होती है।

७८. वह (संयमी साधक) उसे (हिंसा के परिणाम को) समीचीन दृष्टि से समझकर संयम की साधना में सावधान हो जाता है।

७९. सोच्चा खलु भगवओ अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति—
एस खलु गंथे,
एस खलु मोहे,
एस खलु मारे,
एस खलु णरए।

८०. इच्चत्थं गढिए लोए।

८१. जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणि-कम्म-समारंभेणं अगणि-सत्थं समारंभमाणे अण्णे वणेगरूवे पाणे विहिंसति।

तेउकाइयाणं जीवत्त-वेदणाबोध-पदं

८२. से बेमि—अप्पेगे अंधमब्भे, अप्पेगे अंधमच्छे।

८३. अप्पेगे पायमब्भे, अप्पेगे पायमच्छे।†

८४. अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उद्दवए।

हिंसाविवेग-पदं

८५. से बेमि—संति पाणा पुढवि-णिस्सिया, तण-णिस्सिया, पत्त-णिस्सिया, कट्ठ-णिस्सिया, गोमय-णिस्सिया, कयवर-णिस्सिया :

† पूर्णपाठार्थं द्रष्टव्यम् १।२९।

७९. भगवान् या गृहत्यागी मुनियों के समीप सुनकर कुछ मनुष्यों को यह ज्ञात हो जाता है—

यह (अग्निकायिक जीवों की हिंसा) ग्रन्थि है,
यह मोह है,
यह मृत्यु है,
यह नरक है।

८०. [फिर भी] मनुष्य जीवन आदि के लिए [अग्निकायिक जीव-निकाय की हिंसा में] आसक्त होता है।

८१. वह नाना प्रकार के शस्त्रों से अग्नि-सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर अग्निकायिक जीवों की हिंसा करता है; [वह केवल उन अग्निकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु] नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है।

अग्निकायिक जीव का जीवत्व और वेदना-बोध

८२. [अग्निकायिक जीव जन्मना इन्द्रिय-विकल (अंध, बधिर, मूक, पंगु और अवयव-हीन) मनुष्य की भांति अव्यक्त चेतना वाला होता है।] शस्त्र से भेदन-छेदन करने पर जैसे जन्मना इन्द्रिय-विकल मनुष्य को [कष्टानुभूति होती है, वैसे ही अग्निकायिक जीव को होती है]।

८३. [इन्द्रिय-सम्पन्न मनुष्य के] पैर आदि (द्रष्टव्य, १।२९) का शस्त्र से भेदन-छेदन करने पर [उसे प्रकट करने में अक्षम कष्टानुभूति होती है, वैसे ही अग्निकायिक जीव को होती है]।

८४. मनुष्य को मूर्च्छित करने या उसका प्राण-वियोजन करने पर [जैसे कष्टानुभूति होती है, वैसे ही अग्निकायिक जीव को होती है]।

हिंसा-विवेक

८५. मैं कहता हूं—

पृथ्वी, तृण, पत्र, काष्ठ, गोबर और कचरे के आश्रय में अनेक प्राणी होते हैं। संपातिम (उड़ने वाले) प्राणी होते हैं। वे ऊपर से आकर नीचे गिर जाते हैं।

संति संपातिमा पाणा, आहच्च संपयंति य।
अगणिं च खलु पुट्ठा, एगे संघायमावज्जंति ॥
जे तत्थ संघायमावज्जंति, ते तत्थ परियावज्जंति।
जे तत्थ परियावज्जंति, ते तत्थ उद्दायंति ॥

८६. एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति।

८७. एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति।

८८. **तं परिण्णाय मेहावी** नेव सयं अगणि-सत्थं समारंभेज्जा, नेवण्णेहिं अगणि-सत्थं समारंभावेज्जा, अगणि-सत्थं समारंभमाणे अण्णे न समणुजाणेज्जा।

८९. जस्सेते अगणि-कम्म-समारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णाय-कम्मे।

—त्ति बेमि।

पंचमो उद्देसो

अणगार-पदं

९०. तं णो करिस्सामि समुट्ठाए।

९१. मंता मइमं अभयं विदित्ता।

९२. तं जे णो करए एसोवरए, एत्थोवरए एस **अणगारेत्ति पवुच्चइ**।

ये सब प्राणी अग्नि का स्पर्श पाकर सिकुड़ जाते हैं।
जो प्राणी अग्नि का स्पर्श पाकर सिकुड़ जाते हैं, वे (उसकी उष्मा से) मूर्च्छित हो जाते हैं।
जो (उसकी उष्मा से) मूर्च्छित हो जाते हैं, वे वहां मर जाते हैं।

८६. जो अग्निकायिक जीव पर शस्त्र का समारम्भ (प्रयोग) करता है, वह इन आरम्भों [तत्सम्बन्धी व तदाश्रित जीव-हिंसा की प्रवृति] से बच नहीं पाता।

८७. जो अग्निकायिक जीव पर शस्त्र का समारम्भ नहीं करता, वह इन आरम्भों [तत्सम्बन्धी व तदाश्रित जीव-हिंसा की प्रवृत्ति] से मुक्त हो जाता है।

८८. यह जानकर मेधावी मनुष्य स्वयं अग्नि-शस्त्र का समारम्भ न करे, दूसरों से उसका समारम्भ न करवाए, उसका समारम्भ करने वालों का अनुमोदन न करे।

८९. जिसके अग्नि-सम्बन्धी कर्म-समारम्भ परिज्ञात होते हैं, वही परिज्ञातकर्मा (कर्म-त्यागी) मुनि होता है।

—ऐसा मैं कहता हूं।

पंचम उद्देशक

अनगार

९०. [अहिंसा-व्रती संकल्प करे—] [मैं अहिंसा-धर्म में] दीक्षित होकर वह (हिंसा) नहीं करूंगा।

९१. मतिमान पुरुष [जीवों के अस्तित्व का] मनन कर और अभय [सब जीव अभय चाहते हैं, इस आत्म-तुला] को समझकर [किसी की भी हिंसा नहीं करता]।

९२. जो हिंसा नहीं करता, वह व्रती होता है, इस (अर्हत्-शासन) में जो व्रती होता है, वही अनगार कहलाता है।

गिहचाइणो वि गिहवास-पदं

९३. जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे।

९४. उड्ढं अहं तिरियं पाईणं पासमाणे रूवाइं पासति, सुणमाणे सद्दाइं सुणेति।

९५. उड्ढं अहं तिरियं पाईणं मुच्छमाणे रूवेसु मुच्छति, सद्देसु आवि।

९६. एस लोए वियाहिए।

९७. एत्थ अगुत्ते अणाणाए।

९८. पुणो-पुणो गुणासाए, वंकसमायारे, पमत्ते गारमावसे।

वणस्सइकाइयहिंसा-पदं

९९. लज्जमाणा पुढो पास।

१००. अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा।

१०१. जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सइ-कम्म-समारंभेणं वणस्सइ-सत्थं समारंभमाणे अण्णे वणेगरूवे पाणे विहिंसति।

१०२. तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेदिता।

१०३. इमस्स चेव जीवियस्स,
परिवंदण-माणण-पूयणाए,
जाती-मरण-मोयणाए,
दुक्खपडिघायहेउं।

गृहत्यागी के वेष में गृहवासी

९३. जो विषय है, वह आवर्त है और जो आवर्त है, वह विषय है।[२८]

९४. ऊंचे, नीचे और तिरछे [स्थानों में] तथा सामने देखने वाला रूपों को देखता है, सुनने वाला शब्दों को सुनता है।[२८]

९५. ऊंचे, नीचे और तिरछे [स्थानों में] तथा सामने [विद्यमान वस्तुओं में] मूर्च्छित होने वाला—रूपों में मूर्च्छित होता है, शब्दों में मूर्च्छित होता है।[२८]

९६. इसे लोक (आसक्ति का जगत्) कहा जाता है।[२८]

९७. जो पुरुष इस (आसक्ति-जगत्) में [इन्द्रिय और मन से] संवृत नहीं होता, वह मेरी आज्ञा में नहीं है।[२८]

९८. जो बार-बार विषयों का आस्वाद करता है, जिसका आचरण वक्र (असंयममय) होता है और जो प्रमत्त होता है, वह [गृहत्यागी होकर भी] गृहवासी होता है।[२८]

वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा

९९. तू देख! प्रत्येक [संयमी साधक हिंसा से विरत हो] संयम का जीवन जी रहा है।

१००. [और तू देख!] कुछ साधु 'हम गृहत्यागी हैं' यह निरूपित करते हुए भी [गृहवासी जैसा आचरण करते हैं—वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा करते हैं]।

१०१. वह नाना प्रकार के शस्त्रों से वनस्पति-सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा करता है; [वह केवल उन वनस्पतिकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु] नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है।[२९]

१०२. इस विषय में भगवान् ने परिज्ञा (विवेक) का निरूपण किया है।

१०३. वर्तमान जीवन के लिए,
प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए,
जन्म, मरण और मोचन के लिए,
दुःख-प्रतिकार के लिए—

१०४. से सयमेव वणस्सइ-सत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा वणस्सइ-सत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा वणस्सइ-सत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ।

१०५. तं से अहियाए, तं से अबोहीए।

१०६. से तं संबुज्झमाणे, **आयाणीयं समुट्ठाए।**

१०७. सोच्चा भगवओ, अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति—
एस खलु गंथे,
एस खलु मोहे,
एस खलु मारे,
एस खलु णिरए।

१०८. इच्चत्थं गढिए लोए।

१०९. जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सइ-कम्म-समारंभेणं वणस्सइ-सत्थं समारंभेमाणे अण्णे वणेगरूवे पाणे विहिंसति।

वणस्सइकाइयाणं जीवत्त-वेदणाबोध-पदं

११०. से बेमि—अप्पेगे अंधमब्भे, अप्पेगे अंधमच्छे।

१११. अप्पेगे पायमब्भे, अप्पेगे पायमच्छे।*

* पूर्णपाठार्थं द्रष्टव्यम् १।२६।

१०४. कोई साधक स्वयं वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है या करने का अनुमोदन करता है।

१०५. वह (हिंसा) उसके अहित के लिए होती है;
वह (हिंसा) उसकी अबोधि के लिए होती है।

१०६. वह (संयमी साधक) उसे (हिंसा के परिणाम को) समीचीन दृष्टि से समझकर संयम की साधना में सावधान हो जाता है।

१०७. भगवान् या गृहत्यागी मुनियों के समीप सुनकर कुछ मनुष्यों को यह ज्ञात हो जाता है—
यह (वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा) ग्रन्थि है,
यह मोह है,
यह मृत्यु है,
यह नरक है।

१०८. फिर भी मनुष्य जीवन आदि के लिए [वनस्पतिकायिक जीवनिकाय की हिंसा में] आसक्त होता है।

१०९. वह नाना प्रकार के शस्त्रों से वनस्पति-सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा करता है; [वह केवल उन वनस्पतिकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु] नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है।

वनस्पतिकायिक जीव का जीवत्व और वेदना-बोध

११०. [वनस्पतिकायिक जीव जन्मना इन्द्रिय-विकल (अंध, बधिर, मूक, पंगु और अवयव-हीन) मनुष्य की भांति अव्यक्त चेतना वाला होता है।]
शस्त्र से भेदन-छेदन करने पर जैसे जन्मना इन्द्रिय-विकल मनुष्य को [कष्टानुभूति होती है, वैसे ही वनस्पतिकायिक जीव को होती है।]

१११. [इन्द्रिय-सम्पन्न मनुष्य के] पैर आदि (द्रष्टव्य १।२९) का शस्त्र से भेदन-छेदन करने पर [उसे प्रकट करने में अक्षम कष्टानुभूति होती है, वैसे ही वनस्पति को होती है।]

११२. अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उद्दवए ।

वणस्सइजीवाणं माणुस्सेण तुलणा-पदं

११३. से बेमि—इमंपि जाइधम्मयं, एयंपि जाइधम्मयं ।
इमंपि बुड्ढिधम्मयं, एयंपि बुड्ढिधम्मयं ।
इमंपि चित्तमंतयं, एयंपि चित्तमंतयं ।
इमंपि छिन्नं मिलाति, एयंपि छिन्नं मिलाति ।
इमंपि आहारगं, एयंपि आहारगं ।
इमंपि अणिच्चयं, एयंपि अणिच्चयं ।
इमंपि असासयं, एयंपि असासयं ।
इमंपि चयावचइयं, एयंपि चयावचइयं ।
इमंपि विपरिणामधम्मयं, एयंपि विपरिणामधम्मयं ।

हिंसाविवेग-पदं

११४. एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवंति ।

११५. एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति ।

११६. **तं परिण्णाय मेहावी** णेव सयं वणस्सइ-सत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं वणस्सइ-सत्थं समारंभावेज्जा, णेवण्णे वणस्सइ-सत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा ।

११२. मनुष्य को मूर्च्छित करने या उसका प्राण-वियोजन करने पर [उस कष्टानुभूति होती है, वैसे ही वनस्पतिकायिक जीव को होती है]।

मनुष्य और वनस्पति की तुलना

११३. मैं कहता हूं—

यह (मनुष्य) भी जन्मता है,	यह (वनस्पति) भी जन्मती है।
यह (मनुष्य) भी बढ़ता है,	यह (वनस्पति) भी बढ़ती है।
यह (मनुष्य) भी चैतन्ययुक्त है,	यह (वनस्पति) भी चैतन्ययुक्त है।
यह (मनुष्य) भी छिन्न होने पर म्लान होता है,	यह (वनस्पति) भी छिन्न होने पर म्लान होती है।
यह (मनुष्य) भी आहार करता है,	यह (वनस्पति) भी आहार करती है।
यह (मनुष्य) भी अनित्य है,	यह (वनस्पति) भी अनित्य है।
यह (मनुष्य) भी अशाश्वत है,	यह (वनस्पति) भी अशाश्वत है।
यह (मनुष्य) भी उपचित और अपचित होता है,	यह (वनस्पति) भी उपचित और अपचित होती है।
यह (मनुष्य) भी विविध अवस्थाओं को प्राप्त होता है,	यह (वनस्पति) भी विविध अवस्थाओं को प्राप्त होती है।[1]

हिंसा-विवेक

११४. जो वनस्पतिकायिक जीव पर शस्त्र का समारम्भ (प्रयोग) करता है, वह इन आरम्भों [तत्सम्बन्धी व तदाश्रित जीव-हिंसा की प्रवृत्ति] से बच नहीं पाता।

११५. जो वनस्पतिकायिक जीव पर शस्त्र का समारम्भ नहीं करता, वह इन आरम्भों [तत्सम्बन्धी व तदाश्रित जीव-हिंसा की प्रवृत्ति] से मुक्त हो जाता है।

११६. यह जानकर मेधावी मनुष्य स्वयं वनस्पति-शस्त्र का समारम्भ न करे, दूसरों से उसका समारम्भ न करवाए, उसका समारम्भ करने वालों का अनुमोदन न करे।

११७. जस्सेते वणस्सइ-सत्थ-समारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णाय-कम्मे ।

—त्ति बेमि ।

छट्ठो उद्देसो

संसार-पदं

११८. से बेमि—संतिमे तसा पाणा, तं जहा—अंडया पोयया जराउया रसया संसेयया संमुच्छिमा उब्भिया ओववाइया ।

११९. एस संसारेत्ति पवुच्चति ।

१२०. मंदस्स अवियाणओ ।

१२१. णिज्झाइत्ता पडिलेहित्ता पत्तेयं परिणिव्वाणं ।

१२२. सव्वेसिं पाणाणं, सव्वेसिं भूयाणं, सव्वेसिं जीवाणं, सव्वेसिं सत्ताणं अस्सायं अपरिणिव्वाणं महब्भयं दुक्खं ति बेमि ।

तसकाइयहिंसापदं

१२३. तसंति पाणा पदिसोदिसासु य ।

१२४. तत्थ-तत्थ पुढो पास, आउरा परितावेंति ।

१२५. संति पाणा पुढो सिया ।

११७. जिसके वनस्पति-सम्बन्धी कर्म-समारम्भ परिज्ञात होते हैं, वही परिज्ञात-कर्मा (कर्म-त्यागी) मुनि होता है।

—ऐसा मैं कहता हूं।

षष्ठ उद्देशक

संसार

११८. मैं कहता हूं—
ये प्राणी त्रस हैं, जैसे—
अंडज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, सम्मूर्च्छिम, उद्भिज्ज और औपपातिक।"

११९. यह [त्रसलोक] संसार कहलाता है।"

१२०. [यह संसार] मंद और अज्ञानी के होता है।"

१२१. तुम प्रत्येक प्राणी की शान्ति को जानो और देखो।"

१२२. [तुम जानो और देखो—]
सब प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों के लिए अशांति अस्वाद्य, महाभयंकर और दुःखद है।—ऐसा मैं कहता हूं।"

त्रसकायिक जीवों की हिंसा

१२३. [दुःख से अभिभूत] प्राणी दिशाओं और विदिशाओं में (सब ओर से) भयभीत रहते हैं।"

१२४. तू देख! आतुर मनुष्य स्थान-स्थान पर [त्रसकायिक प्राणियों को] परिताप दे रहे हैं।

१२५. [त्रसकायिक] प्राणी पृथक्-पृथक् शरीरों में आश्रित हैं।

१२६. **लज्जमाणा पुढो पास।**

१२७. अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा।

१२८. जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकाय-समारंभेणं तसकाय-सत्थं समारंभमाणे अण्णे वणेगरूवे पाणे विहिंसति।

१२९. तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया।

१३०. इमस्स चेव जीवियस्स,
परिवंदण-माणण-पूयणाए,
जाई-मरण-मोयणाए,
दुक्खपडिघायहेउं।

१३१. से सयमेव तसकाय-सत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा तसकाय-सत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा तसकाय-सत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ।

१३२. तं से अहियाए, तं से अबोहीए।

१३३. से तं संबुज्झमाणे, **आयाणीयं समुट्ठाए।**

१३४. सोच्चा भगवओ, अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवइ—
एस खलु गंथे,
एस खलु मोहे,
एस खलु मारे,
एस खलु णरए।

१२६. तू देख ! प्रत्येक [संयमी साधक हिंसा से विरत हो] संयम का जीवन जी रहा है।

१२७. [और तू देख !] कुछ साधु 'हम गृहत्यागी हैं' यह निरूपित करते हुए भी [गृहवासी जैसा आचरण करते हैं—त्रसकायिक जीवों की हिंसा करते हैं।]

१२८. वह नाना प्रकार के शस्त्रों से त्रस-सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर त्रसकायिक जीवों की हिंसा करता है; [वह केवल उन त्रसकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु] नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है।

१२९. इस विषय में भगवान् ने परिज्ञा (विवेक) का निरूपण किया है।

१३०. वर्तमान जीवन के लिए,
प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए,
जन्म, मरण और मोचन के लिए,
दुःख-प्रतिकार के लिए—

१३१. कोई साधक स्वयं त्रसकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

१३२. वह (हिंसा) उसके अहित के लिए होती है;
वह (हिंसा) उसकी अबोधि के लिए होती है।

१३३. वह (संयमी साधक) उसे (हिंसा के परिणामों को) समीचीन दृष्टि से समझकर संयम की साधना में सावधान हो जाता है।

१३४. भगवान् या गृहत्यागी मुनियों के समीप सुनकर कुछ मनुष्यों को यह ज्ञात हो जाता है—
यह (त्रसकायिक जीवों की हिंसा) ग्रन्थि है,
यह मोह है,
यह मृत्यु है,
यह नरक है।

१३५. इच्चत्थं गढिए लोए।

१३६. जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकाय-समारंभेणं तसकाय-सत्थं समारंभमाणे अण्णे वणेगरूवे पाणे विहिंसति।

तसकाइयाणं जीवत्त-वेदणाबोध-पदं

१३७. से बेमि—अप्पेगे अंधमब्भे, अप्पेगे अंधमच्छे।

१३८. अप्पेगे पायमब्भे, अप्पेगे पायमच्छे।†

१३९. अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उद्दवए।

हिंसाविवेग-पदं

१४०. से बेमि—अप्पेगे अच्चाए वहंति, अप्पेगे अजिणाए वहंति,
अप्पेगे मंसाए वहंति, अप्पेगे सोणियाए वहंति,
अप्पेगे हिययाए वहंति, अप्पेगे पित्ताए वहंति,
अप्पेगे वसाए वहंति, अप्पेगे पिच्छाए वहंति,
अप्पेगे पुच्छाए वहंति, अप्पेगे बालाए वहंति,
अप्पेगे सिंगाए वहंति, अप्पेगे विसाणाए वहंति,
अप्पेगे दंताए वहंति, अप्पेगे दाढाए वहंति,
अप्पेगे नहाए वहंति, अप्पेगे ण्हारुणीए वहंति,
अप्पेगे अट्ठीए वहंति, अप्पेगे अट्ठिमिंजाए वहंति,
अप्पेगे अट्ठाए वहंति, अप्पेगे अणट्ठाए वहंति,
अप्पेगे हिंसिंसु मेत्ति वा वहंति,
अप्पेगे हिंसंति मेत्ति वा वहंति,
अप्पेगे हिंसिस्संति मेत्ति वा वहंति।

---

† पूर्णपाठार्थं द्रष्टव्यम् १।२९।

१३५. [फिर भी] मनुष्य जीवन आदि के लिए [त्रसकायिक जीव-निकाय की हिंसा में] आसक्त होता है।

१३६. वह नाना प्रकार के शस्त्रों से त्रस-सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर त्रसकायिक जीवों की हिंसा करता है; [वह केवल उन त्रसकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु] नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है।

त्रसकायिक जीव का जीवत्व और वेदना-बोध

१३७. [कुछ त्रसकायिक जीव जन्मना-इन्द्रिय-विकल (अंध, बधिर, मूक, पंगु और अवयव-हीन) मनुष्य की भांति अव्यक्त चेतना वाले होते हैं।] शस्त्र से भेदन-छेदन करने पर जैसे जन्मना इन्द्रिय-विकल मनुष्य को [कष्टानुभूति होती है, वैसे ही कुछ त्रसकायिक जीवों को होती है।]

१३८. [इन्द्रिय-संपन्न मनुष्य के] पैर आदि (द्रष्टव्य, १।२९) का शस्त्र से भेदन-छेदन करने पर [उसे प्रकट करने में अक्षम कष्टानुभूति होती है, वैसे ही कुछ त्रसकायिक जीवों को होती है]।

१३९. मनुष्य को मूर्च्छित करने या उसका प्राण-वियोजन करने पर [उसे कष्टानुभूति होती है, वैसे ही कुछ त्रसकायिक जीव को होती है]।

हिंसा-विवेक

१४०. मैं कहता हूं—

कुछ व्यक्ति शरीर के लिए [प्राणियों का] वध करते हैं। कुछ लोग चर्म, मांस, रक्त, हृदय, पित्त, चर्बी, पंख, पूंछ, केश, सींग, विषाण (हस्तिदंत) दांत, दाढ़, नख, स्नायु, अस्थि और अस्थिमज्जा के लिए [प्राणियों का] वध करते हैं।

कुछ व्यक्ति प्रयोजनवश [प्राणियों का] वध करते हैं।

कुछ व्यक्ति बिना प्रयोजन ही [प्राणियों का] वध करते हैं।

कुछ व्यक्ति [इन्होंने मेरे स्वजन-वर्ग की] हिंसा की थी—[यह स्मृति कर प्राणियों का] वध करते हैं।

कुछ व्यक्ति [ये मेरे स्वजन-वर्ग की] हिंसा कर रहे हैं—यह [सोचकर प्राणियों का] वध करते हैं।

कुछ व्यक्ति [ये मेरी या मेरे स्वजन-वर्ग की] हिंसा करेंगे—इस [संभावना से प्राणियों का] वध करते हैं।

१४१. एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति।

१४२. एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति।

१४३. तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं तसकाय-सत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं तसकाय-सत्थं समारंभावेज्जा, णेवण्णे तसकाय-सत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा।

१४४. जस्सेते तसकाय-सत्थ-समारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णाय-कम्मे। —त्ति बेमि।

सत्तमो उद्देसो

अत्ततुला-पदं

१४५. पहू एजस्स दुगंछणाए।

१४६. आयंकदंसी अहियं ति नच्चा।

१४७. जे अज्झत्थं जाणइ, से बहिया जाणइ। जे बहिया जाणइ, से अज्झत्थं जाणइ।

१४८. एयं तुलमण्णेसिं।

१४९. इह संतिगया दविया, णावकंखंति वीजिउं।

१४१. जो त्रसकायिक जीव पर शस्त्र का समारंभ (प्रयोग) करता है, वह इन आरम्भों (तत्सम्बन्धी व तदाश्रित जीव-हिंसा की प्रवृत्ति) से बच नहीं पाता।

१४२. जो त्रसकायिक जीव पर शस्त्र का समारंभ नहीं करता, वह इन आरंभों [तत्संबंधी व तदाश्रित जीव-हिंसा की प्रवृत्ति] से मुक्त हो जाता है।

१४३. यह जानकर मेधावी मनुष्य स्वयं त्रस-शस्त्र का समारम्भ न करे, दूसरों से उसका समारम्भ न करवाए, उसका समारम्भ करने वालों का अनुमोदन न करे।

१४४. जिसके त्रस-सम्बन्धी कर्म-समारंभ परिज्ञात होते हैं, वही परिज्ञातकर्मा (कर्म-त्यागी) मुनि होता है।

सप्तम उद्देशक

आत्म-तुला

१४५. [अहिंसक] पुरुष वायुकायिक जीवों की हिंसा से निवृत्त होने में समर्थ हो जाता है।

१४६. जो पुरुष [हिंसा में] आतंक देखता है, अहित देखता है, [वही उससे निवृत्त होता है।]*

१४७. जो अध्यात्म को जानता है, वह बाह्य को जानता है। जो बाह्य को जानता है, वह अध्यात्म को जानता है।*

१४८. इस तुला का अन्वेषण कर।

१४९. इस [निर्ग्रन्थ-शासन] में [दीक्षित मुनि] शान्त और देहासक्ति से मुक्त होते हैं; इसलिए वे वीजन [हवा लेने] की इच्छा नहीं करते।†

*तुलना—[illegible], १।२७।

वाउकाइयहिंसा-पदं

१५०. लज्जमाणा पुढो पास ।

१५१. अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा ।

१५२. जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्म-समारंभेणं वाउ-सत्थं समारंभमाणे अण्णे वणेगरूवे पाणे विहिंसति ।

१५३. तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया ।

१५४. इमस्स चेव जीवियस्स,
परिवंदण-माणण-पूयणाए,
जाई-मरण-मोयणाए,
दुक्खपडिघायहेउं ।

१५५. से सयमेव वाउ-सत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा वाउ-सत्थं समारंभावेति, अण्णे वा वाउ-सत्थं समारंभंते समणुजाणइ ।

१५६. तं से अहियाए, तं से अबोहीए ।

१५७. से तं संबुज्झमाणे, आयाणीयं समुट्ठाए ।

वायुकायिक जीवों की हिंसा

१५०. तू देख ! प्रत्येक [संयमी साधक हिंसा से विरत हो] संयम का जीवन जी रहा है।

१५१. [और तू देख !] कुछ साधक 'हम गृहत्यागी हैं' यह निरूपित करते हुए भी [गृहवासी जैसा आचरण करते हैं—वायुकायिक जीवों की हिंसा करते हैं]।

१५२. वह नाना प्रकार के शस्त्रों से वायु-सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर वायुकायिक जीवों की हिंसा करता है; [वह केवल उन वायुकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु] नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है।

१५३. इस विषय में भगवान् ने परिज्ञा (विवेक) का निरूपण किया है।

१५४. वर्तमान जीवन के लिए,
प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए,
जन्म, मरण और मोचन के लिए,
दुःख-प्रतिकार के लिए—

१५५. कोई साधक स्वयं वायुकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है या करने का अनुमोदन करता है।

१५६. वह (हिंसा) उसके अहित के लिए होती है;
वह (हिंसा) उसकी अबोधि के लिए होती है।

१५७. वह (संयमी साधक) उसे (हिंसा के परिणामों को) समीचीन दृष्टि से समझकर संयम की साधना में सावधान हो जाता है।

१५८. सोच्चा भगवओ, अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवइ
एस खलु गंथे,
एस खलु मोहे,
एस खलु मारे,
एस खलु णिरए।

१५९. इच्चत्थं गढिए लोए।

१६०. जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्म-समारंभेणं वाउ-सत्थं समारंभमाणे अण्णे वणेगरूवे पाणे विहिंसति।

वाउकाइयाणं जीवत्त-वेदणाबोध-पदं

१६१. से बेमि—अप्पेगे अंधमब्भे, अप्पेगे अंधमच्छे।

१६२. अप्पेगे पायमब्भे, अप्पेगे पायमच्छे।

१६३. अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उद्दवए।

हिंसाविवेग-पदं

१६४. से बेमि—संति संपाइमा पाणा, आहच्च संपयंति य।
फरिसं च खलु पुट्ठा, एगे संघायमावज्जंति॥

१५८. भगवान या गृहत्यागी मुनियों के समीप सुनकर कुछ मनुष्यों को यह ज्ञात हो जाता है—
यह (वायुकायिक जीवों की हिंसा) ग्रन्थि है,
यह मोह है,
यह मृत्यु है,
यह नरक है।

१५९. [फिर भी] मनुष्य जीवन आदि के लिए वायुकायिक जीव-निकाय की हिंसा में आसक्त होता है।

१६०. वह नाना प्रकार के शस्त्रों से वायु-सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर वायुकायिक जीवों की हिंसा करता है; [वह केवल उन वायुकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु] नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है।

वायुकायिक जीव का जीवत्व और वेदना-बोध

१६१. [वायुकायिक जीव जन्मना इन्द्रिय-विकल (अन्ध, बधिर, मूक, पंगु और अवयव-हीन) मनुष्य की भांति अव्यक्त चेतना वाला होता है।]
शस्त्र से भेदन-छेदन करने पर जैसे जन्मना इन्द्रिय-विकल मनुष्य को [कष्टानुभूति होती है, वैसे ही वायुकायिक जीव को होती है]।

१६२. [इन्द्रिय-सम्पन्न मनुष्य के] पैर आदि (द्रष्टव्य, १।२९) का शस्त्र से भेदन-छेदन करने पर [उसे प्रकट करने में अक्षम कष्टानुभूति होती है, वैसे ही वायुकायिक जीव को होती है]।

१६३. मनुष्य को मूर्छित करने या उसका प्राण-वियोजन करने पर [उसे कष्टानुभूति होती है, वैसे ही वायुकायिक जीव को होती है।]

हिंसा-विवेक

१६४. मैं कहता हूं—
संपातिम (उड़ने वाले) प्राणी होते हैं। वे हवा से आहत होकर गिर जाते हैं।

---

१ द्रष्टव्य [illegible]

जे तत्थं संघायमावज्जंति, ते तत्थ परियावज्जंति,
जे तत्थ परियावज्जंति, ते तत्थ उद्दायंति ।।

१६५. एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति ।

१६६. एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति ।

१६७. **तं परिण्णाय मेहावी** णेव सयं वाउ-सत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं वाउ-सत्थं समारंभावेज्जा, णेवण्णे वाउ-सत्थं समारंभंते समणुजाजाणेज्जा ।

१६८. जस्सेते वाउ-सत्थं-समारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णाय-कम्मे ति बेमि ।

मुणि-संबोध-पदं

१६९. एत्थं पि जाणे उवादीयमाणा ।

१७०. जे आयारे न रमंति ।

१७१. आरंभमाणा विणयं वयंति ।

१७२. छंदोवणीया अज्झोववण्णा ।

१७३. आरंभसत्ता पकरेंति संगं ।

ये सब प्राणी वायु का स्पर्श पाकर सिकुड़ जाते हैं।
जो प्राणी वायु का स्पर्श पाकर सिकुड़ जाते हैं, वे [उसके स्पर्श से] मूर्छित हो जाते हैं। जो [उसके स्पर्श से] मूर्च्छित हो जाते हैं, वे वहां मर जाते हैं।

१६५. जो वायुकायिक जीव पर शस्त्र का समारम्भ (प्रयोग) करता है, वह इन आरम्भों (तत्सम्बन्धी व तदाश्रित जीव-हिंसा की प्रवृत्ति) से बच नहीं पाता।

१६६. जो वायुकायिक जीव पर शस्त्र का समारम्भ नहीं करता, वह इन आरम्भों (तत्सम्बन्धी व तदाश्रित जीव-हिंसा की प्रवृत्ति) से मुक्त हो जाता है।

१६७. यह जानकर मेधावी मनुष्य स्वयं वायु-शस्त्र का समारम्भ न करे, दूसरों से उसका समारम्भ न करवाए, उसका समारम्भ करने वालों का अनुमोदन न करे।

१६८. जिसके वायु-सम्बन्धी कर्म-समारम्भ परिज्ञात होते हैं, वही परिज्ञातकर्मा (कर्म-त्यागी) मुनि होता है।

मुनि को सम्बोध

१६९. इस प्रसंग में तुम जानो—[कुछ साधु सुख-सुविधा की भावना से] बंधे हुए होते हैं।

१७०. [सुख-सुविधा की भावना से वे बंधते हैं,] जो आचार में रमण नहीं करते।

१७१. [जो आचार में रमण नहीं करते,] वे स्वयं आरम्भ करते हुए [दूसरों को] आचार का उपदेश देते हैं।

१७२. वे स्वच्छन्दचारी और विषयासक्त होते हैं।

१७३. [जो स्वच्छन्दचारी और विषयासक्त होते हैं,] वे आरम्भ में आसक्त होकर नई-नई आसक्तियों और नए-नए बन्धनों को उत्पन्न करते हैं।

१७४. से वसुमं सव्व-समन्नागय-पण्णाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावं कम्मं ।

१७५. तं णो अण्णेसिं ।

हिंसाविवेग-पदं

१७६. **तं परिण्णाय मेहावी** णेव सयं छज्जीव-णिकाय-सत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं छज्जीव-णिकाय-सत्थं समारंभावेज्जा, णेवण्णे छज्जीव-णिकाय-सत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा ।

१७७. जस्सेते छज्जीव-णिकाय-सत्थ-समारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णाय-कम्मे ।

—त्ति बेमि ।

१७४. बोधि-सम्पन्न (अहिंसक) के लिए पूर्ण सत्यप्रज्ञ अन्तःकरण से पापकर्म (हिंसा का आचरण व विषय का सेवन) अकरणीय है।

१७५. [पाप कर्म अकरणीय हैं; इसलिए अहिंसक] उसका अन्वेषण न करे।"

हिंसा-विवेक

१७६. यह जानकर मेधावी मनुष्य स्वयं छह जीवनिकाय-शस्त्र का समारम्भ न करे, दूसरों से उसका समारम्भ न करवाए, उसका समारम्भ करने वालों का अनुमोदन न करे।

१७७. जिसके छह जीवनिकाय-सम्बन्धी कर्म-समारम्भ परिज्ञात होते हैं, वही परिज्ञात-कर्मा (कर्म-त्यागी) मुनि होता है।

—ऐसा मैं कहता हूं।

१७४. से वसुमं सव्व-समन्नागय-पण्णाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावं कम्मं ।

१७५. तं णो अण्णेसिं ।

हिंसाविवेग-पदं

१७६. **तं परिण्णाय मेहावी** णेव सयं छज्जीव-णिकाय-सत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं छज्जीव-णिकाय-सत्थं समारंभावेज्जा, णेवण्णे छज्जीव-णिकाय-सत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा ।

१७७. जस्सेते छज्जीव-णिकाय-सत्थ-समारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णाय-कम्मे ।

—त्ति बेमि ।

१७४. बोधि-सम्पन्न (अहिंसक) के लिए पूर्ण सत्यप्रज्ञ अन्तःकरण से पापकर्म (हिंसा का आचरण व विषय का सेवन) अकरणीय है।

१७५. [पाप कर्म अकरणीय हैं; इसलिए अहिंसक] उसका अन्वेषण न करे।[३९]

हिंसा-विवेक

१७६. यह जानकर मेधावी मनुष्य स्वयं छह जीवनिकाय-शस्त्र का समारम्भ न करे, दूसरों से उसका समारम्भ न करवाए, उसका समारम्भ करने वालों का अनुमोदन न करे।

१७७. जिसके छह जीवनिकाय-सम्बन्धी कर्म-समारम्भ परिज्ञात होते हैं, वही परिज्ञात-कर्मा (कर्म-त्यागी) मुनि होता है।

—ऐसा मैं कहता हूं।

टिप्पण

सूत्र—१

१. संज्ञा का अर्थ है—चेतना। वह दो प्रकार की होती है—ज्ञान-चेतना और अनुभव-चेतना। ज्ञान-चेतना से मनुष्य जानता है और अनुभव-चेतना से संवेदन करता है।

सूत्रकार ने बतलाया है कि कुछ मनुष्यों में अपने पूर्व जन्मों की ज्ञान-चेतना नहीं होती।

सूत्र—१, २

२. चेतन की क्रिया अचेतन से भिन्न है, इसलिए चेतन के अस्तित्व को सब दार्शनिक स्वीकार करते थे और आज भी करते हैं। चेतन की क्रिया प्रत्यक्ष है; इसलिए उसे अस्वीकार किया भी नहीं जा सकता। उसके त्रैकालिक अस्तित्व के विषय में मतभेद रहा है। कुछ दार्शनिकों ने उसके त्रैकालिक अस्तित्व को स्वीकार किया और कुछ ने नहीं किया।

चेतन के त्रैकालिक अस्तित्व को स्वीकार करने वाले आत्मवादी और उसे अस्वीकार करने वाले अनात्मवादी कहलाते हैं।

अनात्मवादी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, किन्तु उसके अनुसंचरण —अतीत और भविष्य कालीन अस्तित्व (पूर्वजन्म या पुनर्जन्म) को स्वीकार नहीं करते। वे आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व को मानते ही नहीं, तब उनके लिए उसे प्रत्यक्षत: जानने का प्रश्न ही नहीं होता।

आत्मवादी आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व को मानते हैं, किन्तु मानते हुए भी सब उसे जान नहीं पाते। इस समूचे अज्ञात को चार प्रश्नों में संकलित किया गया है:

१. मैं कहां से आया हूं ?
२. और कहां जाऊंगा ?
३. मैं कौन था ?
४. और क्या होऊंगा ?

सूत्र—३

३. आत्मा सूक्ष्म है, इसलिए वह चर्म-चक्षुओं के प्रत्यक्ष नहीं है। परोक्ष तत्त्व को जानने के दो साधन हैं—

१. स्वयं का अतिशायी ज्ञान,

२. अतिशायी ज्ञानी का वचन।

साधक को साधना में स्थिर करने के लिए उसे किसी एक परोक्ष विषय का साक्षात् करा देना आवश्यक है। भगवान् महावीर शिष्यों को जाति-स्मृति (पूर्वजन्म की स्मृति) करा देते थे। उससे उन्हें आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व का बोध हो जाता और वे आत्मा के विशुद्ध स्वरूप की उपलब्धि के लिए साधना में लग जाते।

मेघकुमार मगध-सम्राट् श्रेणिक का पुत्र था। वह भगवान् महावीर के पास दीक्षित हुआ। वह जिस दिन दीक्षित हुआ, उसी रात्रि में फिर घर जाने को तैयार हो गया। प्रातःकाल भगवान् के पास गया। भगवान् ने कहा—मेघकुमार ! तुम स्थान की असुविधा से निद्रा-भंग होने के कारण क्षुब्ध हो गए हो, पुनः घर जाने की बात सोच रहे हो। क्यों यह ठीक है न ?

मेघकुमार—हां, भन्ते ! सही है।

भगवान्—मेघकुमार ! तू पूर्व जन्म में मेरुप्रभ नाम का हाथी था। एक बार जंगल में आग लग गई। जंगली जानवर एक घास-रहित मंडल में एकत्र हो गए। सारा मंडल जीव-जन्तुओं से भर गया। पैर रखने को भी स्थान खाली नहीं रहा। तूने शरीर को खुजलाने के लिए पैर ऊंचा किया। एक खरगोश तुम्हारे पैर के नीचे आकर बैठ गया। तूने पैर नीचे रखना चाहा। खरगोश को नीचे बैठा देख तूने अनुकम्पापूर्वक अपना पैर अधर रख लिया। ढाई दिन-रात तक तू अपने पैर को अधर में लटकाए रहा। दावानल शान्त हो गया। पशु अपने-अपने स्थान पर चले गए। वह खरगोश भी वहां से चला गया। उस समय तूने पैर को नीचे रखना चाहा। किन्तु तुम्हारा पैर अकड़ गया था। तू धमाके के साथ नीचे गिर गया।

मेघकुमार ! तूने हाथी के जन्म में इतना बड़ा कष्ट सहा और अब तू मनुष्य है और मनुष्य-जीवन में भी संयमी है। तू थोड़े से कष्ट से क्षुब्ध हो गया ! क्या यह उचित है ? एक खरगोश की अनुकम्पा के लिए तुम्हारा पैर अधर में लटकता रहा, क्या अब अनेक जीवों की हिंसा के लिए तुम्हारा चरण असंयम की भूमि पर टिकेगा ?

भगवान् की बात सुनकर मेघकुमार ईहा और गवेषणा की गहराई में डुबकी लेने लगा। उसे अपने पूर्वजन्म की स्मृति हो आई। भगवान् के द्वारा पूर्वजन्म की स्मृति कराने पर उसकी श्रद्धा पहले से दुगुनी हो गई, उसका संवेग दुगुना हो गया।

टिप्पण

सूत्र—१

१. संज्ञा का अर्थ है—चेतना। वह दो प्रकार की होती है—ज्ञान-चेतना और अनुभव-चेतना। ज्ञान-चेतना से मनुष्य जानता है और अनुभव-चेतना से संवेदन करता है।

सूत्रकार ने बतलाया है कि कुछ मनुष्यों में अपने पूर्व जन्मों की ज्ञान-चेतना नहीं होती।

सूत्र—१, २

२. चेतन की क्रिया अचेतन से भिन्न है, इसलिए चेतन के अस्तित्व को सब दार्शनिक स्वीकार करते थे और आज भी करते हैं। चेतन की क्रिया प्रत्यक्ष है; इसलिए उसे अस्वीकार किया भी नहीं जा सकता। उसके त्रैकालिक अस्तित्व के विषय में मतभेद रहा है। कुछ दार्शनिकों ने उसके त्रैकालिक अस्तित्व को स्वीकार किया और कुछ ने नहीं किया।

चेतन के त्रैकालिक अस्तित्व को स्वीकार करने वाले आत्मवादी और उसे अस्वीकार करने वाले अनात्मवादी कहलाते हैं।

अनात्मवादी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, किन्तु उसके अनुसंचरण —अतीत और भविष्य कालीन अस्तित्व (पूर्वजन्म या पुनर्जन्म) को स्वीकार नहीं करते। वे आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व को मानते ही नहीं, तब उनके लिए उसे प्रत्यक्षतः जानने का प्रश्न ही नहीं होता।

आत्मवादी आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व को मानते हैं, किन्तु मानते हुए भी सब उसे जान नहीं पाते। इस समूचे अज्ञात को चार प्रश्नों में संकलित किया गया है :

१. मैं कहां से आया हूं ?

२. और कहां जाऊंगा ?

३. मैं कौन था ?

४. और क्या होऊंगा ?

सूत्र—३

३. आत्मा सूक्ष्म है, इसलिए वह चर्म-चक्षुओं के प्रत्यक्ष नहीं है। परोक्ष तत्त्व को जानने के दो साधन हैं—

१. स्वयं का अतिशायी ज्ञान,

२. अतिशायी ज्ञानी का वचन।

साधक को साधना में स्थिर करने के लिए उसे किसी एक परोक्ष विषय का साक्षात् करा देना आवश्यक है। भगवान् महावीर शिष्यों को जाति-स्मृति (पूर्वजन्म की स्मृति) करा देते थे। उससे उन्हें आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व का बोध हो जाता और वे आत्मा के विशुद्ध स्वरूप की उपलब्धि के लिए साधना में लग जाते।

मेघकुमार मगध-सम्राट् श्रेणिक का पुत्र था। वह भगवान् महावीर के पास दीक्षित हुआ। वह जिस दिन दीक्षित हुआ, उसी रात्रि में फिर घर जाने को तैयार हो गया। प्रातःकाल भगवान् के पास गया। भगवान् ने कहा—मेघकुमार! तुम स्थान की असुविधा से निद्रा-भंग होने के कारण क्षुब्ध हो गए हो, पुनः घर जाने की बात सोच रहे हो। क्यों यह ठीक है न?

मेघकुमार—हां, भन्ते! सही है।

भगवान्—मेघकुमार! तू पूर्व जन्म में मेरुप्रभ नाम का हाथी था। एक बार जंगल में आग लग गई। जंगली जानवर एक घास-रहित मंडल में एकत्र हो गए। सारा मंडल जीव-जन्तुओं से भर गया। पैर रखने को भी स्थान खाली नहीं रहा। तूने शरीर को खुजलाने के लिए पैर ऊंचा किया। एक खरगोश तुम्हारे पैर के नीचे आकर बैठ गया। तूने पैर नीचे रखना चाहा। खरगोश को नीचे बैठा देख तूने अनुकम्पापूर्वक अपना पैर अधर रख लिया। ढाई दिन-रात तक तू अपने पैर को अधर में लटकाए रहा। दावानल शान्त हो गया। पशु अपने-अपने स्थान पर चले गए। वह खरगोश भी वहां से चला गया। उस समय तूने पैर को नीचे रखना चाहा। किन्तु तुम्हारा पैर अकड़ गया था। तू धमाके के साथ नीचे गिर गया।

मेघकुमार! तूने हाथी के जन्म में इतना बड़ा कष्ट सहा और अब तू मनुष्य है और मनुष्य-जीवन में भी संयमी है। तू थोड़े से कष्ट से क्षुब्ध हो गया! क्या यह उचित है? एक खरगोश की अनुकम्पा के लिए तुम्हारा पैर अधर में लटकता रहा, क्या अब अनेक जीवों की हिंसा के लिए तुम्हारा चरण असंयम की भूमि पर टिकेगा?

भगवान् की बात सुनकर मेघकुमार ईहा और गवेषणा की गहराई में डुबकी लेने लगा। उसे अपने पूर्वजन्म की स्मृति हो आई। भगवान् के द्वारा पूर्वजन्म की स्मृति कराने पर उसकी श्रद्धा पहले से दुगुनी हो गई, उसका संवेग दुगुना हो गया।

उसकी आंखों से आनन्द के आंसू टपकने लगे। वह अपने क्षोभ को भूलकर संयम में स्थिर हो गया। उसने भगवान् का नमस्कार कर कहा—"भन्ते ! मैं अपनी दो आंखों को छोड़कर शेष सारा शरीर श्रमणों के लिए समर्पित करता हूं। वे मेरे इस शरीर से जो सेवा लेना चाहें, वह लें।

पूर्वजन्म की स्मृति के लिए निम्न विषयों पर चिन्तन किया जाता—

मैं किस दिशा से आया हूं ?

क्या पूर्व से आया हूं या पश्चिम से ?

उत्तर से आया हूं या दक्षिण से ?

ऊर्ध्व दिशा से आया हूं या अधो दिशा से ?

मैं कौन हूं ?

मैं कौन था ?

मैं क्या होऊंगा ?

इन प्रश्नों में से किसी एक प्रश्न को लेकर साधक ध्यान में बैठ जाता और मन को उसी समस्या में केन्द्रित कर देता। इस साधना से उसे जाति-स्मृति हो जाती।

भगवान् महावीर ने जिस अहिंसात्मक आचार का निरूपण किया, उसका आधार आत्मा है। आत्मा का स्पष्ट बोध होने पर ही अहिंसात्मक आचार में आस्था हो सकती है। इसीलिए सूत्रकार ने प्रारम्भ में आत्मा का अस्तित्व स्थापित किया है।

सूत्र—४

४. **कोहम्** (मैं कौन हूं) और **सोहम्** (मैं वह हूं)—ये दो पद आत्मवादी दर्शन के दो चक्षु हैं। पहले पद में अपने अस्तित्व की जिज्ञासा है और दूसरे में अपने अस्तित्व का प्रत्यक्ष बोध है। 'सोहम्' यह तर्कशास्त्र का प्रत्यभिज्ञा प्रमाण—अतीत और वर्तमान का संकलनात्मक ज्ञान है।

शिष्य ने पूछा—आत्मा का लक्षण क्या है ?

आचार्य ने उत्तर दिया—सोहम्।

शरीर अहंकार-शून्य है। उसमें जो अहंकार है, जैसे—मैं करता हूं, मैंने किया और मैं करूंगा, वही आत्मा (चेतन) का लक्षण है।

योगशास्त्र में 'सोहम्' बहुत बड़ा जप-मन्त्र है। इससे आत्मा और परमात्मा के एकत्व की अनुभूति पुष्ट होती है। **यः परात्मा स एवाहम्**—जो परमात्मा है, वही मैं हूं।

सूत्र—५

५. अहिंसा के चार मुख्य आधार हैं—

आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद।

आत्मा अपने स्वरूप में अमूर्त है। वह इन्द्रियों के द्वारा जाना नहीं जा सकता। वह शरीर के माध्यम से ही जाना जाता है। जैसे आत्मा का अस्तित्व है, वैसे ही लोक का अस्तित्व है। आत्मा और लोक, दोनों पारमार्थिक सत्ताएं हैं।

शरीर-तन्त्र कर्म से संचालित होता है। कर्म-तन्त्र क्रिया से संचालित होता है। इस संसार की विविधता या परिवर्तन का मूल हेतु क्रिया है। जीव में जब तक प्रकम्पन, स्पन्दन, क्षोभ और विविध भावों का परिणमन होता है, तब तक वह कर्म-परमाणुओं से बंधता रहता है। वह कर्म-परमाणुओं से बद्ध होता है, तब नाना योनियों में अनुसंचरण करता है। आत्मा के अस्तित्व का स्पष्ट लक्षण है—अनुसंचरण या पुनर्जन्म। उसका हेतु है—कर्मबन्ध और उसका हेतु है—क्रिया। यह सब लोक में ही घटित होता है। इस लोक में अपनी आत्मा जैसी अनेक आत्माएं हैं और पुद्गल द्रव्य भी हैं। अन्य आत्माओं तथा पौद्गलिक पदार्थों के प्रति अपने व्यवहार का संयम करना अहिंसा का मूल आधार है।

सूत्र—६-८

६. भगवान महावीर के दर्शन का संक्षिप्त सार यह है—

क्रिया (आश्रव) अनुसंचरण का और अक्रिया (संवर) उसके निरोध का हेतु है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने इस तथ्य को निम्न श्लोक में प्रगट किया है—

आश्रवो भवहेतुः स्यात्, संवरो मोक्षकारणम्।
इतीय मार्हती दृष्टि, रन्यदस्याः प्रपंचनम्॥

—आश्रव संसार का हेतु है और संवर मोक्ष का। महावीर की मूल दृष्टि इतनी ही है, शेष सब उसका विस्तार है।

सूत्र—१०

७. १. जीवन की सुरक्षा के लिए मनुष्य विविध औषधियों और रसायनों का सेवन करता है। **'जीवो जीवस्य जीवनम्'** यह मानकर अपने जीवन के लिए दूसरे जीवों का वध और शोषण करता है।

२. प्रशंसा, प्रसिद्धि या कीर्ति के लिए मनुष्य मल्लयुद्ध, तैराकी, पर्वतारोहण आदि अनेक प्रतियोगितात्मक प्रवृत्तियां करता है।

३. सम्मान के लिए मनुष्य धन का अर्जन, बल का संग्रह आदि प्रवृत्तियां करता है।

४. पूजा पाने (प्रतिदान) के लिए मनुष्य युद्ध आदि विविध प्रवृत्तियां करता है।

५. जन्म : संतान की प्राप्ति तथा अपने भावी जन्म की चिन्ता से मनुष्य अनेक प्रकार की प्रवृत्तियां करता है।

६. मरण : वैर-प्रतिशोध, पितृ-पिण्डदान आदि प्रवृत्तियां मनुष्य मृत्यु के परिपार्श्व में करता है।

७. मुक्ति : मुक्ति की प्रेरणा से मनुष्य अनेक प्रकार की उपासना आदि प्रवृत्तियां करता है।

८. दु:ख-प्रतिकार : रोग, आतंक आदि मिटाने के लिए मनुष्य औषधियों, रसायनों आदि का निर्माण करता है। उनके निर्माण के लिए पशु-पक्षियों की हिंसा करता है।

सूत्र—१२

८. कर्म शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यहां उसका अर्थ है—क्रिया। यहां मन, वचन और काया की क्रिया का निरोध करने वाले को मुनि कहा गया है। गीता में इस कोटि के साधक को पंडित कहा गया है—

यस्य सर्वसमारम्भाः, कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं, तमाहुः पंडितं बुधाः ॥४।१९

गीता (१८।२,३) में कर्म-योग और कर्म-संन्यास दोनों प्रतिपादित हैं। कर्मयोग के तीन अंग है—

१. फल की आकांक्षा का वर्जन;
२. कर्तृत्व के अभिमान का परित्याग;
३. ईश्वर को कर्म का समर्पण।

कर्म-संन्यास के विषय में तीन अभिमत मिलते हैं—

१. कुछ विद्वान काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास कहते हैं।
२. कुछ विद्वान् कर्म के फल-त्याग को त्याग कहते हैं।
३. कुछ विद्वान् मानते हैं कि सभी कर्म दोषयुक्त हैं, अतः वे त्यागने योग्य हैं।

भगवान महावीर ने कर्म-योग और कर्म-त्याग दोनों का समन्वित मार्ग निरूपित किया था। उनकी साधना-पद्धति का प्रमुख अंग है—संवर—कर्म का निरोध। किन्तु वह प्रथम चरण में ही सम्भव नहीं है। पहले कर्म का शोधन (निर्जरा) होता है, फिर कर्म का निरोध। पूर्ण कर्म-निरोध की स्थिति मुक्त होने के कुछ ही क्षणों पूर्व प्राप्त होती है। क्रिया में से जैसे-जैसे आसक्ति और कषाय के अंश को कम किया जाता है, वैसे-वैसे कर्म का शोधन होता चला जाता है। कर्म-समारम्भ-परिज्ञा के द्वारा कर्म का शोधन और निरोध—दोनों अभिहित हैं।

सूत्र—१५

९. आतुर अनेक प्रकार के होते हैं—कामातुर, भोगातुर, सुखातुर आदि।
काम-भोग से आतुर व्यक्ति भोग-सामग्री को पाने के लिए हिंसा करते हैं।
सुखातुर व्यक्ति सुख के साधनों की प्राप्ति के लिए हिंसा करते हैं।
आतुरता मन की शान्त स्थिति में क्षोभ उत्पन्न करती है। क्षुब्ध मनुष्य लालसा के वशीभूत हो हिंसा में प्रवृत्त हो जाता है।

सूत्र—१६

१०. गौतम[1] ने पूछा--भन्ते! दो, तीन, चार या पांच पृथ्वीकायिक जीव एकत्र होकर किसी एक सामुदायिक शरीर का निर्माण करते हैं; उसका निर्माण कर फिर आहार करते हैं; उसका परिणमन करते हैं; और उस परिणमन के द्वारा फिर शरीर का निर्माण करते हैं?

भगवान्—वे ऐसा नहीं करते। पृथ्वीकायिक जीव पृथक्-पृथक् शरीर का निर्माण करते हैं। उनका आहार व परिणमन भी व्यक्तिगत होता है।[2]

सूत्र—१९

११. इस विश्व में अनेक जीव हैं और अनेक पदार्थ। एक ही पदार्थ कुछ जीवों के लिए पोषक होता है और कुछ जीवों के लिए मारक। जो पदार्थ जिस जीवकाय के लिए मारक होता है, वह उसके लिए शस्त्र होता है।

निर्युक्ति में पृथ्वीकाय के शस्त्र इस प्रकार निर्दिष्ट हैं—

१. कुदाली आदि खनन के उपकरण, हल आदि विदारण के उपकरण।
२. मृगशृंग।
३. काष्ठ।
४. अग्नि।
५. उच्चार-प्रस्रवण (मल-मूत्र)।
६. स्वकाय शस्त्र—काली मिट्टी का शस्त्र पीली मिट्टी आदि।
७. परकाय शस्त्र—जल आदि।
८. तदुभय शस्त्र—मिट्टी मिश्रित जल।
९. भाव शस्त्र—असंयम।

---

१. भगवान् महावीर के प्रमुख शिष्य एवं प्रथम गणधर—इन्द्रभूति गौतम।
२. भगवती सूत्र, १९।५।

सूत्र—२३

१२. बोधि तीन प्रकार की होती है—

ज्ञानबोधि, दर्शनबोधि और चरित्रबोधि । ज्ञान और दर्शन ये दोनों बोधात्मक हैं और चरित्र आचारात्मक। बोधि शब्द में ये दोनों अर्थ निहित हैं। हिंसा बोधि-लाभ के लिए महान् अन्तराय है।

सूत्र—२५

१३. भगवान् महावीर से गणधर गौतम को अहिंसा का बोध प्राप्त हुआ था। कुछ व्यक्तियों ने भगवान् के अन्य शिष्यों से अहिंसा का बोध प्राप्त किया था। चरक आदि परिव्राजक तथा प्रत्येक बुद्ध अनगार भी जनता को अहिंसा का बोध देते थे।

हिंसा कर्म-ग्रन्थि, मोह, मृत्यु और नरक का हेतु है। यह उनका प्रबल हेतु है, इसलिए इसे ग्रन्थि आदि का हेतु कहने की अपेक्षा ग्रन्थि आदि कहना अधिक संगत है।

सूत्र—२८-३०

१४. शिष्य ने पूछा—भंते ! पृथ्वीकायिक जीव न देखता है, न सुनता है, न बोलता है और न चलता है, फिर यह कैसे माना जाए कि वह जीव है और भेदन-छेदन करने से उसे कष्ट का अनुभव होता है ?

भगवान् ने कहा—आर्य ! कोई मनुष्य जन्मना अंध, बधिर, मूक और पंगु है। मृगापुत्र की भांति अवयवहीन है, नाम मात्र का मनुष्य है। कोई व्यक्ति उसका भेदन-छेदन करता है। वह न देख सकता, न सुन सकता, न बोल सकता और न चल सकता है। क्या दर्शन, श्रवण, वाणी और गति के अभाव में यह मान लिया जाए कि वह जीव नहीं है और भेदन-छेदन करने से उसे कष्ट का अनुभव नहीं होता ?

भगवान् ने फिर कहा—आर्य ! कुछ मनुष्य (किसी मनुष्य के शरीर के पैर आदि बत्तीस अवयवों का एक साथ भेदन-छेदन करते हैं। उस समय वह मनुष्य) न देख सकता है, न सुन सकता है और न चल सकता है। फिर क्या वह जीव नहीं है ? क्या उसे कष्ट का अनुभव नहीं होता ?

शिष्य बोला—भंते ! आपने बहुत ठीक कहा; फिर भी मेरा मन समाहित नहीं हुआ है। क्योंकि इन्द्रिय-विकल मनुष्य बाह्य रूप में वेदना को प्रकट नहीं कर सकता, किन्तु उसमें प्राणों का स्पंदन विद्यमान है। पृथ्वीकायिक जीव में वह नहीं है।

भगवान् ने कहा—आर्य ! पृथ्वीकायिक जीव में भी प्राणों का स्पन्दन है; पर इन चर्म-चक्षुओं से तुम उसे देख नहीं पाते। मूर्च्छित मनुष्य की चेतना जैसे बाहर से लुप्त होती है, वैसे ही स्त्यानगृद्धि निद्रा के सतत उदय से उसकी चेतना सतत मूर्च्छित और बाहर से लुप्त रहती है।

मूर्च्छा दो प्रकार की होती है—

१. बाह्य मूर्च्छा,

२. अन्तरंग मूर्च्छा।

अन्तरंग मूर्च्छा होने पर चेतना की शून्यता आ जाती है। फिर कोई अनुभव नहीं होता। बाहरी चेतना के मूर्च्छित होने पर भी मनुष्य को कष्ट का अनुभव होता है।

पृथ्वीकायिक जीवों की चेतना बाहरी रूप में मूर्च्छित होती है। वे अन्तर में चेतना-शून्य नहीं होते। इसीलिए वे मूर्च्छित मनुष्य की भांति कष्ट का अनुभव करते हैं।

प्रथम दृष्टान्त में सूत्रकार ने पृथ्वीकायिक जीव के जीवत्व और वेदना की जन्मना इन्द्रिय-विकल मनुष्य से, दूसरे में कृत्रिम इन्द्रिय-विकल मनुष्य से और तीसरे में मूर्च्छित मनुष्य से तुलना की है।

गौतम—भंते ! पृथ्वीकायिक जीव को आक्रान्त करने पर उसे किस प्रकार की वेदना का अनुभव होता है ?

भगवान्—गौतम ! कोई तरुण और बलिष्ठ पुरुष किसी जरा-जर्जरित पुरुष के सिर को दोनों हाथों से आहत करता है। वह उस तरुण के द्वारा दोनों हाथों से सिर में आहत होने पर कैसी वेदना का अनुभव करता है ?

गौतम—भंते ! वह वृद्ध अनिष्ट वेदना का अनुभव करता है।

भगवान्—गौतम ! पृथ्वीकायिक जीव आक्रान्त होने पर उस वृद्ध पुरुष से कहीं अधिक अनिष्टतर वेदना का अनुभव करता है।[1]

सूत्र—३५

१५. साध्य की प्राप्ति के तीन सूत्र हैं—

१. आचरण की ऋजुता,

२. साध्य-निष्ठा,

३. साध्य-प्राप्ति के लिए उचित प्रयत्न।

सूत्रकार ने इन्हीं तीन सूत्रों से अनगार की कसौटी की है। ऋजुता धर्म का

---

१. भगवती सूत्र, १९।३५।

मूल आधार है। वक्र मनुष्य धार्मिक नहीं हो सकता। धर्म शुद्ध आत्मा में रहता है। शुद्ध वह है, जो ऋजु है।

वक्रता उसे करनी होती है, जो सत्य को उलटना चाहता है। जो सत्य को यथार्थ रूप में प्रकट करना चाहता है, वह शरीर, भाव और भाषा से ऋजु होगा। उसकी कथनी और करनी में संवादिता होगी। इसी आधार पर भगवान् ने सत्य के चार प्रकार प्रतिपादित किए हैं[1]—

१. शरीर की ऋजुता,
२. भाव की ऋजुता,
३. भाषा की ऋजुता,
४. प्रवृत्ति में संवादिता।

सूत्र—३६

१६. लक्ष्य की पूर्ति के लिए अभिनिष्क्रमण करते समय भाव-धारा वर्धमान होती है। उसका हीयमान होना इष्ट नहीं है, फिर भी काल की लम्बी अवधि में वह अवस्थित नहीं रहती, कभी-कभी हीन हो जाती है। इसीलिए आचार्य ने साधक को यह निर्देश दिया—श्रद्धा को बढ़ाओ। यदि बढ़ा न सको, तो अभिनिष्क्रमण-काल में जो श्रद्धा थी, उसे कम मत होने दो। यदि लाभ न कमा सको तो कम से कम मूल पूंजी को सुरक्षित रखो। श्रद्धा की हानि चित्त की चंचलता या लक्ष्य के प्रति शंका होने से होती है।

सूत्र—३७

१७. अहिंसा मोक्ष का पथ है। सर्वत्र, सर्वदा और सबके लिए है। इसलिए यह महापथ है। जो इसके प्रति समर्पित हुए हैं और होंगे, उन सब को मोक्ष प्राप्त होगा।

महापथ का अर्थ कुण्डलिनी—प्राणधारा भी है। पराक्रमी साधक ऊर्ध्वगमन के लिए इस प्राणधारा के प्रति समर्पित हो जाता है—पृष्ठरज्जु के माध्यम से प्राण-धारा को मस्तिष्क की ओर प्रवाहित कर देता है। उसके हिंसा के संस्कार समाप्त हो जाते हैं।

जो आचरण देश-काल से सीमित होता है, वह पथ है। समता देशकाल की सीमा से अतीत आचरण है। वह प्रत्येक देश और प्रत्येक काल में आचरणीय है। इसलिए वह महापथ है।

---

१. स्थानांग सूत्र, ४।१०२।

समता कोई सम्प्रदाय नहीं है। यह स्वयं धर्म है। शान्ति की आराधना करने वाले जितने पुरुष हुए हैं, वे सब इस पथ पर चले हैं, चलते हैं और चलेंगे। फिर भी यह संकीर्ण नहीं होता। इसलिए यह महापथ है।

सूत्र—३९

१८. शिष्य ने पूछा—भंते ! अपने अस्तित्व का अस्वीकार कोई भी व्यक्ति नहीं करता, फिर यह कैसे कहा गया—साधक अपने अस्तित्व का अभ्याख्यान न करे ?

आचार्य ने कहा—जो व्यक्ति जलकायिक जीव के अस्तित्व को अस्वीकार करता है, वह वास्तव में अपने अस्तित्व का अस्वीकार करता है। सूक्ष्म जीवों की सत्ता को नकारना वास्तव में अपने अस्तित्व को नकारना है।

अपने अस्तित्व को अस्वीकार किए बिना जलकायिक जीव के अस्तित्व का अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः यह कहना उचित है—जो अपने अस्तित्व को अस्वीकार करता है, वही व्यक्ति वास्तव में जलकायिक जीव के अस्तित्व का अस्वीकार करता है।

असत्य आक्षेप, मिथ्या अभियोग, असत् आरोप या यथार्थ की अयथार्थ रूप में स्वीकृति—ये सब अभ्याख्यान हैं।

सूत्र—५४-५५

१९. जल में जीव का होना और जल का स्वयं जीव होना—ये दो बातें हैं। क्षेत्रीय निमित्त से जल में कृमि आदि उत्पन्न हो जाते हैं, वे जल-निश्रित जीव कहलाते हैं। इनका स्वीकार सब दार्शनिक करते थे। जल के रूप में उत्पन्न होने वाले जीव जलकायिक जीव कहलाते हैं। इनकी स्वीकृति महावीर के दर्शन में ही मिलती है।

जल-निश्रित जीवों और जलकायिक जीवों के सम्बन्ध-सूचक चार विकल्प होते हैं—

१. सजीव जल और जल-निश्रित जीवों का अस्तित्व।
२. सजीव जल, किन्तु जल-निश्रित जीवों का अभाव।
३. निर्जीव जल, किन्तु जल-निश्रित जीवों का अस्तित्व।
४. निर्जीव जल और जल-निश्रित जीवों का अभाव।

जल तीन प्रकार का होता है—सजीव, निर्जीव और मिश्र।

सूत्र—५६

२०. शस्त्र (विरोधी वस्तु) के प्रयोग से सजीव जल मिश्र या निर्जीव बन जाता है। शस्त्र का प्रयोग अल्प मात्रा में होने पर वह मिश्र और पूर्ण मात्रा में होने पर निर्जीव बन जाता है।

सूत्र—५७

२१. निर्युक्ति में जलकाय के शस्त्र इस प्रकार निर्दिष्ट हैं—

१. उत्सेचन—कुए से जल निकालना।

२. गालन—जल छानना।

३. धावन—जल से उपकरण आदि धोना।

४. स्वकाय शस्त्र—नदी का जल तालाब के जल का शस्त्र है।

५. परकाय शस्त्र—मिट्टी, तेल, क्षार, अग्नि आदि।

६. तदुभय—जलमिश्रित मिट्टी।

७. भाव शस्त्र—असंयम।

सूत्र—५८

२२. परिव्राजक अदत्त जल का प्रयोग नहीं करते थे। वे जलाशय के स्वामी की अनुमति लेकर ही जल लेते थे। इस पर भी जैन श्रमणों का यह तर्क था कि क्या जल के जीवों ने अपने प्राण-हरण की अनुमति दी है ? यदि नहीं दी है, तब सजीव जल का प्रयोग कर उनके प्राणों का हरण करना अदत्तादान कैसे नहीं होगा ?

सूत्र—५९

२३. जैन श्रमण कहते थे—सजीव जल का प्रयोग करना हिंसा है, अदत्तादान है। आजीवक आदि श्रमणों का अभिमत था कि जल सजीव नहीं है, अतः इसका प्रयोग करना न हिंसा हैं और न अदत्तादान है। हम जल का प्रयोग कर सकते हैं, फिर भी केवल पीने के लिए उसका प्रयोग करते हैं।[1]

सूत्र—६०

२४. परिव्राजक आदि स्नान, पान आदि सीमित प्रयोजनों से जलकायिक जीवों की परिमित हिंसा करते हैं, किन्तु उनके लिए हिंसा सर्वथा अकरणीय नहीं है।

सूत्र—६८

२५. इस सूत्र से फलित होता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि के चार सोपान है—वस्तु को जानने के दो साधन हैं :

१. परोक्ष ज्ञान

२. प्रत्यक्ष ज्ञान

---

१. इस प्रसंग में ओवाइय, सूत्र १११-११३ और १३७-१३८ द्रष्टव्य है।

जब हमारा ज्ञान परोक्ष होता है, तब हम अध्ययन, मनन और ध्यान के द्वारा वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस ज्ञान-धारा में वस्तु का अस्पष्ट बोध होता है। उसके कुछेक पर्याय ज्ञात होते हैं।

हम विशिष्ट ध्यान से या ज्ञानावरण का विलय होने पर वस्तु का प्रत्यक्ष बोध करते हैं। यह बोध स्पष्ट होता है। इससे वस्तु के समग्र पर्याय ज्ञात हो जाते हैं।

प्राचीन काल में मुनि लोग ध्यान की विशिष्ट पद्धतियों के द्वारा वस्तुओं का साक्षात्कार करते थे। यान्त्रिक उपकरण (सूक्ष्मदर्शी यन्त्र आदि) वस्तु के बोध और विश्लेषण का एकमात्र विकल्प नहीं हैं।

विशिष्ट ध्यान और अनावृत चेतना के द्वारा वस्तु का प्रत्यक्ष बोध किया जा सकता है। प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि के चार सोपान हैं—

१. पराक्रम—साधना में शक्ति का समुचित प्रयोग।
२. संयम—इन्द्रियों और मन का निग्रह।
३. यम—क्रोध, मान, माया और लोभ का निग्रह।
४. अप्रमाद—सतत जागरूकता।

सूत्र—७३

२६. निर्युक्ति में अग्निकाय के शस्त्र इस प्रकार निर्दिष्ट हैं—

१. मिट्टी या धूलि।
२. जल।
३. आर्द्र वनस्पति।
४. त्रस प्राणी।
५. स्वकाय शस्त्र—पत्तों की अग्नि का तृण की अग्नि शस्त्र है।
६. परकाय शस्त्र—जल आदि।
७. तदुभय शस्त्र—तुषमिश्रित अग्नि दूसरी अग्नि का शस्त्र है।
८. भाव शस्त्र—असंयम।

सूत्र—९१

२७. क्रिया और ज्ञान—दोनों एक ही साधना के दो पहलू हैं। ज्ञान-हीन क्रिया और क्रिया-हीन ज्ञान फलवान् नहीं होता; इसलिए आचार्य ने साधक को निर्देश दिया है कि वह अहिंसा का आचरण करने से पूर्व उसका ज्ञान प्राप्त करे। इस सूत्र में ज्ञान के दो क्रम निर्दिष्ट हैं—

१. मनन।
२. आत्मतुला की अनुभूति।

मनन करने से वस्तु-सत्य का बोध होता है और आत्म-तुला की अनुभूति से दूसरे प्राणियों के साथ तादात्म्य स्थापित होता है। अहिंसा इसके अनन्तर फलित होती है।

सूत्र—९३-९८

२८. गुण—इन्द्रिय-विषय—पांच हैं: रूप, शब्द, गंध, रस और स्पर्श। ये ऊंची, नीची, तिरछी, पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण—इन सभी दिशाओं में मिलते हैं। दिशा ज्ञान का एक आयाम है। इसके माध्यम से ही व्यक्ति विषयों को ग्रहण करता है। विषयों का ग्रहण और उनके प्रति मूर्च्छा—ये दो अवस्थाएं हैं। साधक को मूर्च्छा नहीं करनी चाहिए। मूर्च्छा-लोक में विचरने वाला साधक इच्छा के अधीन होकर विषय-लोलुप हो जाता है। वह मुनि-धर्म को छोड़कर पुनः गृहवासी हो जाता है। यदि वह गृहवासी नहीं होता, तो मुनि के वेष में ही गृहवासी जैसा आचरण करने लग जाता है।

जैसे आवर्त में फंसा हुआ व्यक्ति निकल नहीं पाता, वैसे ही विषयों में फंसा हुआ व्यक्ति उनके चक्र से छूट नहीं पाता; इसीलिए सूत्रकार ने विषय और आवर्त के एकत्व का प्रतिपादन किया है।

सूत्र—१०१

२९. निर्युक्ति में वनस्पतिकाय के शस्त्र इस प्रकार निर्दिष्ट हैं—

१. हाथ, पैर और मुंह।
२. स्वकाय शस्त्र—लाठी आदि।
३. परकाय शस्त्र—पाषाण, अग्नि आदि।
४. तदुभय शस्त्र—कुल्हाड़ी आदि।
५. भाव शस्त्र—असंयम।

सूत्र—११३

३०. नींद, दोहद, रोग आदि पर्यायों से भी मनुष्य और वनस्पति की तुलना की जा सकती है।

सूत्र—११८

३१. अण्डज—अण्डों से उत्पन्न होने वाले मयूर आदि अण्डज कहलाते हैं।

पोतज—'पोत' का अर्थ शिशु है। जो शिशु रूप में उत्पन्न होते हैं, जिन पर कोई आवरण लिपटा हुआ नहीं होता, वे पोतज कहलाते हैं। हाथी, चर्म-जलौका आदि पोतज प्राणी हैं।

जरायुज—जन्म के समय में जो जरायु-वेष्टित दशा में उत्पन्न होते हैं, वे जरायुज कहलाते हैं। भैंस, गाय आदि इसी रूप में उत्पन्न होते हैं। जरायु का अर्थ गर्भ-वेष्टन या वह झिल्ली है, जो शिशु को आवृत किए रहती है।

रसज—छाछ, दही आदि रसों में उत्पन्न होने वाले सूक्ष्म शरीर जीव रसज कहलाते हैं।

संस्वेदज—पसीने से उत्पन्न होने वाले खटमल, यूका (जूं) आदि जीव संस्वेदज कहलाते हैं।

सम्मूर्च्छिम—बाहरी वातावरण के संयोग से उत्पन्न होने वाले शलभ, चींटी, मक्खी आदि जीव सम्मूर्च्छिम कहलाते हैं।

औपपातिक—उपपात का अर्थ है अचानक घटित होने वाली घटना। देवता और नारकीय जीव एक मुहूर्त के भीतर ही पूर्ण युवा बन जाते हैं इसीलिए इन्हें औपपातिक—अकस्मात् उत्पन्न होने वाला कहा जाता है।

सूत्र—११६

३२. त्रस-लोक को संसार कहने के दो अभिप्राय हो सकते हैं।

१. परिभ्रमणात्मक जगत्।

२. गत्यात्मक जगत्।

इस अष्टविध योनि-संग्रह में जीव परिभ्रमण करते हैं—जन्म-मरण करते हैं; इसलिए वह संसार है।

इस योनि-संग्रह में उत्पन्न जीव ही गतिमान होते हैं; अतः वह संसार है।

सूत्र—१२०

३३. यहां संसार-भ्रमण के दो कारण निर्दिष्ट हैं—

१. मंदता—निर्णायक बुद्धि या विवेक का अभाव।

२. अज्ञान।

पटुता और ज्ञान प्राप्त होने पर मनुष्य मुक्ति की ओर प्रस्थान कर देता है।

सूत्र—१२१-१२२

३४. स्वाद्य, सुख, अभय और परिनिर्वाण—ये सुख के पर्यायवाची हैं। अस्वाद्य, दुःख, महाभय और अपरिनिर्वाण—ये दुःख के पर्यायवाची हैं।

सब प्राणियों को शान्ति प्रिय है और अशांति अप्रिय है। जो पुरुष इस शाश्वत सत्य को जानता-देखता है, वही अहिंसक हो सकता है।

सूत्र—१२३

३५. प्राणी सब ओर से भय का अनुभव करते हैं। ऐसी कौन सी दिशा या विदिशा है, जिससे और जहां प्राणी को भय न हो ? रेशम का कीड़ा सब ओर से भयभीत होता है। अतएव वह अपनी सुरक्षा के लिए कोश का निर्माण करता है। प्रत्येक दिशा और विदिशा में प्राणी हैं और वे शारीरिक और मानसिक दुःखों से संत्रस्त हैं।

सूत्र—१४७

३६. प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या अनेक नयों से की जा सकती है, जैसे—

१. वस्तु का आन्तरिक स्वरूप सूक्ष्म और वाह्य स्वरूप स्थूल होता है। स्थूल को जानना सरल और सूक्ष्म को जानना कठिन होता है। सूक्ष्म को जानने वाला स्थूल को स्पष्टतया जान लेता है। स्थूल को जाननेवाला सूक्ष्म को उसके माध्यम से ही जान पाता है। आत्मा आंतरिक तत्त्व है। उसका चेतन स्वरूप स्पष्टतया ज्ञात नहीं होता। किन्तु शरीर में उसकी जो क्रिया प्रकट होती है, वह स्थूल है, वाह्य है। उसके माध्यम से जाना जा सकता है कि अचेतन शरीर चेतना की क्रिया नहीं कर सकता। यह जो चेतना की क्रिया प्रकट हो रही है, वह इसके भीतर अवस्थित चेतन तत्त्व की क्रिया है।

२. व्यक्ति को सुख-दुःख का संवेदन प्रत्यक्ष होता है, इसलिए सुख-दुःख स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है। दूसरे के सुख-दुःख का संवेदन स्वसंवेदन के आधार पर जाना जा सकता है। इसलिए दूसरों के सुख-दुःख का संवेदन परोक्ष है। निमित्तों के मिलने पर जो अपने में घटित होता है, वही दूसरों में घटित होता है और जो दूसरों में घटित होता है, वही अपने में घटित है।

३. ज्ञान सूर्य की भांति स्व-पर-प्रकाशी है। जैसे सूर्य स्वयं प्रकाशित है और दूसरों को प्रकाशित करता है, वैसे ही ज्ञान स्वयं प्रकाशित है और दूसरे तत्त्वों को प्रकाशित करता है। ज्ञान का कार्य है ज्ञेय को जानना। ज्ञान स्वप्रकाशी है, इसलिए वह अध्यात्म को जानता है—अपने-आप को जानता है। वह परप्रकाशी भी है; इसलिए वाह्य को जानता है—अपनी आत्मा से भिन्न समग्र ज्ञेय को जानता है। वाह्य जगत् और अन्तर्जगत् को जानने वाला ज्ञान एक ही है। इसीलिए सूत्रकार ने कहा है—जो अध्यात्म को जानता है, वह वाह्य को जानता है और जो वाह्य को जानता है, वह अध्यात्म को जानता है।

सूत्र—१४६-१४८

३७. अहिंसा के तीन आलम्बन हैं—

१. आतंक-दर्शन—हिंसा से होने वाले आतंक का दर्शन।
२. अहित-बोध—हिंसा से होने वाले अहित का बोध।
३. आत्म-तुला—सब जीवों के सुख-दुःख के अनुभव की समानता। जैसे अपने को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, वैसे ही दूसरों को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है। जैसे दूसरों को सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है, वैसे ही अपने को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है।

सूत्र—१७३

३८. स्वच्छन्दचारी और विषयासक्त साधु स्वयं आचार का पालन न करते हुए दूसरों को आचार का उपदेश देते हैं।

सूत्र—१७५

३९. प्रवृत्ति का मुख्य स्रोत अन्तःकरण है। वह प्रज्ञा से संचालित होता है। उसके नियामक तत्त्व दो हैं—मोह और निर्मोह। मोह से नियंत्रित प्रज्ञा असत्य होती है—धर्म के विपरीत होती है। निर्मोह से नियंत्रित प्रज्ञा सत्य होती है—धर्म के अनुकूल होती है। जिसकी प्रज्ञा सत्य होती है, वह शरीर, वाणी और भाव से ऋजु तथा कथनी और करनी में समान होता है। इस प्रकार की सत्य प्रज्ञा से संचालित अन्तःकरण ही हिंसा और विषय से विरक्त हो सकता है। कोई भी साधक केवल बाह्याचार से हिंसा और विषय से विरक्त नहीं हो सकता। पूर्ण सत्यप्रज्ञा युक्त अन्तःकरण से ही वह उनसे विरक्त हो सकता है।

बीअं अज्झयणं

लोगविजओ

द्वितीय अध्ययन

लोक-विजय

पढमो उद्देसो

आसत्ति-पदं

१. जे गुणे से मूलट्ठाणे, जे मूलट्ठाणे से गुणे।

२. इति से गुणट्ठी महता परियावेणं वसे पमत्ते—माया मे, पिया मे, भाया मे, भइणी मे, भज्जा मे, पुत्ता मे, धूया मे, सुण्हा मे, सहि-सयण-संगंथ-संथुया मे, विवित्तोवगरण-परियट्टण-भोयण-अच्छायणं मे, **इच्चत्थं गढिए लोए**—वसे पमत्ते।

३. **अहो य राओ य परितप्पमाणे, कालाकालसमुट्ठाई,**
संजोगट्ठी अट्ठालोभी, आलुंपे सहसक्कारे,
विणिविट्ठचित्ते **एत्थ सत्थे पुणो-पुणो।**

असरणाणुपेहापुव्वं अप्पमाद-पदं

४. अप्पं च खलु आउं इहमेगेसिं माणवाणं, तंजहा—
सोय-परिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं,
चक्खु-परिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं,
घाण-परिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं,
रस-परिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं,
फास-परिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं।

५. अभिक्कंतं च खलु वयं संपेहाए।

प्रथम उद्देशक

आसक्ति

१. जो विषय है, वह संसार है;
जो संसार है, वह विषय है।[1]

२. इस प्रकार विषयार्थी पुरुष महान् परिताप से प्रमत्त होकर वास करता है। मेरी माता, मेरा पिता, मेरा भाई, मेरी बहिन, मेरी पत्नी, मेरा पुत्र, मेरी पुत्री, मेरी वधू, मेरा मित्र, मेरा स्वजन, मेरे स्वजन का स्वजन, मेरा सहवासी, मेरे प्रचुर उपकरण, परिवर्तन (आदान-प्रदान की सामग्री), भोजन, वस्त्र—इनमें आसक्त पुरुष प्रमत्त होकर उनके साथ वास करता है।[2]

३. वह रात-दिन परितप्त रहता है, काल या अकाल में [अर्थार्जन का] प्रयत्न करता है, संयोग का अर्थी होकर अर्थ-लोलुप [और अर्थ-लोलुप होकर] चोर या लुटेरा हो जाता है। उसका चित्त [अर्थार्जन में ही] लगा रहता है। [अर्थार्जन में संलग्न पुरुष] पुनः-पुनः शस्त्र (संहारक) बनता है।

अशरण भावना और अप्रमाद

४. इस [संसार] में कुछ मनुष्यों का आयुष्य अल्प होता है, जैसे—
श्रोत्र-प्रज्ञान के परिहीन हो जाने पर,
चक्षु-प्रज्ञान के परिहीन हो जाने पर,
घ्राण-प्रज्ञान के परिहीन हो जाने पर,
रस-प्रज्ञान के परिहीन हो जाने पर,
स्पर्श-प्रज्ञान के परिहीन हो जाने पर,
[वे अल्प आयु में ही मर जाते हैं।]

५. अवस्था [जरा की ओर] जा रही है—यह देखकर [पुरुष चिन्ताग्रस्त हो जाता है]।[3]

६. तओ से एगया मूढभावं जणयंति।

७. जेहिं वा सद्धिं संवसति ते वा णं एगया णियगा तं पुव्विं परिवयंति, सो वा ते णियगे पच्छा परिवएज्जा।

८. **नालं ते तव ताणाए** वा, सरणाए वा।
तुमं पि तेसिं नालं ताणाए वा, सरणाए वा।

९. से ण हस्साए, ण किड्डाए, ण रतीए, ण विभूसाए।

१०. इच्चेवं समुट्ठिए अहोविहाराए।

११. अंतरं च खलु इमं संपेहाए—धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए।

१२. वयो अच्चेइ जोव्वणं व।

१३. जीविए इह जे पमत्ता।

१४. से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपित्ता विलुंपित्ता उद्दवित्ता उत्तासइत्ता।

१५. अकडं करिस्सामित्ति मण्णमाणे।

१६. जेहिं वा सद्धिं संवसति ते वा णं एगया णियगा तं पुव्विं पोसेंति, सो वा ते णियगे पच्छा पोसेज्जा।

१७. **नालं ते तव ताणाए** वा, सरणाए वा।
तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा, सरणाए वा।

६. उसके पश्चात् एकदा (जीवन के उतरार्द्ध में) [इन्द्रियां] मूढ़ता उत्पन्न कर देती हैं—श्रवण, दर्शन आदि लुप्त हो जाते हैं।[४]

७. वह जिनके साथ रहता है, वे आत्मीय जन एकदा (वृद्धावस्था आने पर) उसके तिरस्कार की पहल करते हैं। बाद में वह भी उनका तिरस्कार करने लग जाता है।

८. [हे पुरुष !] वे स्वजन तुम्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हैं। तुम भी उन्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हो।

९. वह [वृद्ध मनुष्य] न हास्य-विनोद के योग्य रहता है, न क्रीड़ा के, न रति-सेवन के और न शृंगार के।

१०. इस प्रकार [वृद्धावस्था में होने वाली दशा को जानकर] पुरुष संयम (अहोविहार) के लिए समुद्यत हो जाए।[५]

११. इस [प्राप्त] अवसर की समीक्षा कर धीर पुरुष मुहूर्तभर भी प्रमाद न करे।

१२. अवस्था बीत रही है और यौवन चला जा रहा है।

१३. जो इस जीवन के प्रति प्रमत्त है, [वह इसे नहीं समझ पा रहा है]।

१४. [इसीलिए] वह हनन, छेदन, भेदन, चोरी, ग्रामघात, प्राणवध और त्रास—[इन प्रवृत्तियों] में लगा रहता है।

१५. 'मैं वह करूंगा, जो आज तक किसी ने नहीं किया'—यह मानते हुए [वह हिंसा में प्रवृत्त होता है]।

१६. वह जिनके साथ रहता है, वे आत्मीय जन एकदा (शैशव या अर्थाभाव में) उनके पोषण की पहल करते हैं। बाद में वह भी उनका पोषण करता है।

१७. [ऐसा होने पर भी] हे पुरुष ! वे तुम्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हैं। तुम भी उन्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हो।

१८. उवाइय-सेसेण वा सन्निहि-सन्निचओ कज्जइ, इहमेगेसिं असंजयाणं भोयणाए।

१९. तओ से एगया रोग-समुप्पाया समुप्पज्जंति।

२०. जेहिं वा सद्धिं संवसति ते वा णं एगया णियगा तं पुव्विं परिहरंति, सो वा ते णियगे पच्छा परिहरेज्जा।

२१. **नालं ते तव ताणाए** वा, सरणाए वा।
तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा, सरणाए वा।

२२. जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं।

२३. अणभिक्कंतं च खलु वयं संपेहाए।

२४. खणं जाणाहि पंडिए !

२५. जाव सोय-पण्णाणा अपरिहीणा,
जाव णेत्त-पण्णाणा अपरिहीणा,
जाव घाण-पण्णाणा अपरिहीणा,
जाव जीह-पण्णाणा अपरिहीणा,
जाव फास-पण्णाणा अपरिहीणा।

२६. इच्चेतेहिं विरूवरूवेहिं पण्णाणेहिं अपरिहीणेहिं आयट्ठं सम्मं समणुवासिज्जासि।

—त्ति बेमि।

१८. मनुष्य उपभोग के बाद बचे हुए [धन] से कुछ गृहस्थों के भोजन के लिए [दूध, दही आदि पदार्थों की] सन्निधि और [चीनी, घृत आदि पदार्थों का] सन्निचय करता है।

१९. उसके पश्चात् [अर्थ-संचय होने पर भी] एकदा (भोग काल में) मनुष्य के शरीर में रोग के उत्पात उत्पन्न हो जाते हैं [—वह उसका भोग कर ही नहीं पाता]।

२०. वह जिनके साथ रहता है, वे आत्मीय जन एकदा [कुष्ठ जैसे रोग के होने पर] उसको छोड़ने की पहल करते हैं। बाद में [अवसर आने पर] वह भी उन्हें छोड़ देता है।

२१. [प्रियता की स्थिति में ऐसा न होने पर भी] हे पुरुष ! वे तुम्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हैं। तुम भी उन्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हो।

२२. दुःख और सुख व्यक्ति का अपना-अपना होता है—यह जानकर—

२३. अवस्था [यौवन और शक्ति] अतिक्रान्त नहीं हुई है—यह देखकर—

२४. हे पंडित ! तू क्षण को जान।

२५. जब तक श्रोत्र का प्रज्ञान पूर्ण है,
जब तक चक्षु का प्रज्ञान पूर्ण है,
जब तक घ्राण का प्रज्ञान पूर्ण है,
जब तक रसना का प्रज्ञान पूर्ण है,
जब तक स्पर्श का प्रज्ञान पूर्ण है,—

२६. इन नाना रूप प्रज्ञानों के पूर्ण रहते हुए पुरुष आत्महित का सम्यक् अनुशीलन करे।

—ऐसा मैं कहता हूं।

बीओ उद्देसो

अरति-निव्वत्तण-पदं

२७. अरइं आउट्टे से मेहावी ।

२८. खणंसि मुक्के ।

२९. अणाणाए पुट्ठा वि एगे णियट्टंति ।

३०. मंदा मोहेण पाउडा ।

३१. "अपरिग्गहा भविस्सामो" समुट्ठाए, लद्धे कामेहिगाहंति ।

३२. अणाणाए मुणिणो पडिलेहंति ।

३३. एत्थ मोहे पुणो-पुणो सण्णा ।

३४. णो हव्वाए णो पाराए ।

३५. विमुक्का हु ते जणा, जे जणा पारगामिणो ।

अणगार-पदं

३६. लोभं अलोभेण दुगंछमाणे, लद्धे कामे नाभिगाहइ ।

३७. विणइत्तु लोभं निक्खम्म, एस अकम्मे जाणति-पासति ।

द्वितीय उद्देशक

अरति-निवृत्ति

२७. जो अरति (चैतसिक उद्वेग) का निवर्तन करता है, वह मेधावी होता है।[६]

२८. वह क्षण भर में [कामनाओं से] मुक्त हो जाता है।

२९. अनाज्ञा में [वर्तमान] कुछ साधु [कामना से] स्पृष्ट होकर वापस घर में भी चले जाते हैं।

३०. मंदमति [मनुष्य] मोह से अतिशय रूप में आवृत होते हैं।

३१. कुछ पुरुष 'हम अपरिग्रही होंगे'—[इस संकल्प से] प्रव्रजित हो जाते हैं; फिर प्राप्त कामों का आसेवन करते हैं।[७]

३२. अनाज्ञा में [वर्तमान] मुनि [विषयों की ओर] देखते हैं।[७]

३३. उन्हें विषयों के प्रति मोह हो जाता है और वे पुनः-पुनः उनके दलदल में निमग्न रहते हैं। [फिर अधिक मोह और अधिक निमज्जन—यह क्रम चलता रहता है।][७]

३४. वे न इस तीर पर आ सकते और न उस पार जा सकते।[७]

३५. जो पुरुष [विषय-दलदल के] पारगामी होते हैं; वे विमुक्त हो जाते हैं।

अनगार

३६. जो पुरुष अलोभ से लोभ को पराजित कर देता है, वह प्राप्त कामों का सेवन नहीं करता।[८]

३७. जो लोभ को छोड़कर प्रव्रजित होता है, वह अकर्म (ध्यानस्थ या आवरण-मुक्त) होकर जानता-देखता है।[८]

३८. पडिलेहाए णावकंखति ।

३९. एस अणगारेत्ति पवुच्चति ।

दंड-समादाण-पदं

४०. अहो य राओ य परितप्पमाणे, कालाकालसमुट्ठाई,
संजोगट्ठी अट्ठालोभी, आलुंपे सहसक्कारे,
विणिविट्ठचित्ते, एत्थ सत्थे पुणो-पुणो ।

४१. से आय-बले, से णाइ-बले, से मित्त-बले, से पेच्च-बले, से देव-बले, से राय-बले, से चोर-बले, से अतिहि-बले, से किवण-बले, से समण-बले ।

४२. इच्चेतेहिं विरूवरूवेहिं कज्जेहिं दंड-समायाणं ।

४३. सपेहाए भया कज्जति ।

४४. पाव-मोक्खोत्ति मण्णमाणे ।

४५. अदुवा आसंसाए ।

हिंसाविवेग-पदं

४६. **तं परिण्णाय मेहावी** णेव सयं एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभेज्जा, णेवण्णं एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभावेज्जा, णेवण्णं एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभंतं समणुजाणेज्जा ।

३८. [हिताहित की] समीक्षा करने वाला [विषयों की] आकांक्षा नहीं करता।

३९. वह (विषयों के प्रति निःस्पृह रहने वाला) अनगार कहलाता है!

दण्ड-प्रयोग

४०. वह रात-दिन परितप्त रहता है, काल या अकाल में [अर्थार्जन का] प्रयत्न करता है, संयोग का अर्थी होकर अर्थ-लोलुप [और अर्थ-लोलुप होकर] चोर या लुटेरा हो जाता है। उसका चित्त [अर्थार्जन में ही] लगा रहता है। [अर्थार्जन में संलग्न पुरुष] पुनः-पुनः शस्त्र (संहारक) बनता है।

४१. वह शरीर-बल, ज्ञाति-बल, मित्र-बल, पारलौकिक बल, देव-बल, राज-बल, चोर-बल, अतिथि-बल, कृपण-बल और श्रमण-बल का [संग्रह करता है।][1]

४२. इन नानाविध कार्यों [की सम्पूर्ति] के लिए वह दंड (हिंसा) का प्रयोग करता है।

४३. कोई व्यक्ति अपने चिन्तन से [हिंसा का प्रयोग करता है] और कोई भय से [करता है]।

४४. कोई [यज्ञ, बलि आदि से] पाप की मुक्ति मानता हुआ [हिंसा का प्रयोग करता है]।

४५. अथवा कोई [अप्राप्त को पाने की] अभिलाषा से [हिंसा का प्रयोग करता है]।

हिंसा-विवेक

४६. यह जानकर मेधावी पुरुष उक्त प्रयोजनों से स्वयं हिंसा का प्रयोग न करे, दूसरों से उसका प्रयोग न करवाए और उसका प्रयोग करने वाले का अनुमोदन न करे।

अणासत्ति-पदं

४७. एस मग्गे आरिएहिं पवेइए।

४८. जहेत्थ कुसले णोवलिंपिज्जासि।

—त्ति बेमि।

तइओ उद्देसो

समत्त-पदं

४९. से असइं उच्चागोए, असइं णीयागोए।
णो हीणे, णो अइरित्ते, णो पीहए।

५०. इति संखाय के गोयावादी? के माणावादी? कंसि वा एगे गिज्झे?

५१. तम्हा पंडिए णो हरिसे, णो कुज्झे।

५२. भूएहिं जाण पडिलेह सातं।

५३. समिते एयाणुपस्सी।

५४. तंजहा—अंधत्तं बहिरत्तं मूयत्तं काणत्तं कुंटत्तं खुज्जत्तं वडभत्तं सामत्तं सबलत्तं।

अनासक्ति

४७. यह (लोक-विजय का) मार्ग तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादित है।

४८. जिससे कुशल पुरुष इन [विषयों में] लिप्त न हो।

—ऐसा मैं कहता हूं।

तृतीय उद्देशक

समत्व

४९. यह पुरुष अनेक वार उच्च गोत्र और अनेक वार नीच गोत्र का अनुभव कर चुका है। अतः न कोई हीन है और न कोई अतिरिक्त; [इसलिए वह उच्च गोत्र की] स्पृहा न करे।

५०. [यह पुरुष अनेक वार उच्च गोत्र और नीच गोत्र का अनुभव कर चुका है —] यह जान लेने पर कौन गोत्रवादी होगा ? कौन मानवादी होगा ? और कौन किसी एक स्थान में आसक्त होगा ?

५१. इसलिए पंडित पुरुष [उच्च गोत्र प्राप्त होने पर] हर्षित न हो और [नीच गोत्र प्राप्त होने पर] कुपित न हों।

५२. तू जीवों [के कर्म-बंध और कर्म-विपाक] को जान और उनके सुख [-दुःख] को देख।

५३. सम्यग्दर्शी पुरुष इस (इष्ट-अनिष्ट कर्म-विपाक) को देखता है।

५४. जैसे—कोई अंधा है और कोई वहरा, कोई गूंगा और कोई काना, कोई लूला है, कोई कुवड़ा और कोई वौना, कोई कोढ़ी है और कोई चितकबरा।

५५. सहपमाएणं अणेगरूवाओ जोणीओ संधाति, विरूवरूवे फासे पडिसंवेदेइ।

५६. से अबुज्झमाणे हतोवहते जाइ-मरणं अणुपरियट्टमाणे।

परिग्गह-तद्दोस-पदं

५७. जीवियं पुढो पियं इहमेगेसिं माणवाणं, खेत्त-वत्थु ममायमाणाणं।

५८. आरत्तं विरत्तं मणिकुंडलं सह हिरण्णेण, इत्थियाओ परिगिज्झ तत्थेव रत्ता।

५९. ण एत्थ तवो वा, दमो वा, णियमो वा दिस्सति।

६०. संपुण्णं बाले जीविउकामे लालप्पमाणे मूढे विप्परियासुवेइ।

६१. इणमेव णावकंखंति, जे जणा धुवचारिणो।
जाती-मरणं परिण्णाय, चरे संकमणे दढे॥

६२. णत्थि कालस्स णागमो।

६३. **सव्वे पाणा पियाउया** सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा।

५५. पुरुष अपने ही प्रमाद से नाना रूप योनियों में जाता है और विविध प्रकार के आघातों का अनुभव करता है।

५६. वह (प्रमत्त पुरुष) [कर्म-विपाक को] नहीं जानता हुआ [व्याधि से] हत और [अपमान से] उपहत होता है। [वह मद से कर्म का संचय कर वार-वार जन्म और मरण करता है।

परिग्रह और उसके दोष

५७. भूमि और घर में ममत्व रखने वाले कुछ (अविद्यावान्) पुरुषों को विपुल [समृद्धि से पूर्ण] जीवन प्रिय होता है।

५८. वे रंग-विरंगे मणि, कुण्डल, हिरण्य और स्त्रियों का परिग्रह कर उनमें अनुरक्त हो जाते हैं।

५९. परिग्रही पुरुष में न तप होता है, न शान्ति और न नियम।

६०. अज्ञानी पुरुष [ऐश्वर्य-] पूर्ण जीवन जीने की कामना करता है। वह वार-वार [सुख की] कामना+ करता है। [इस प्रकार वह अपने द्वारा कृत कामना की व्यथा से] मूढ़ होकर विपर्यास को प्राप्त होता है—सुख का अर्थी होकर दुःख को प्राप्त होता है।×

६१. जो पुरुष मोक्ष की ओर गतिशील हैं, वे इस [विपर्यासपूर्ण जीवन को जीने] की इच्छा नहीं करते [विपर्यासपूर्ण जीवन जीने वाले के] जन्म-मरण को जानकर वह मोक्ष के सेतु पर दृढ़तापूर्वक चले।

६२. मृत्यु के लिए कोई भी क्षण अनवसर नहीं है [—वह किसी भी क्षण आ सकती है]।

६३. सब प्राणियों को आयुष्य प्रिय है। वे सुख का आस्वाद करना चाहते हैं, दुःख से घबराते हैं। उन्हें वध अप्रिय है, जीवन प्रिय है। वे जीवित रहना चाहते हैं।[१०]

+ देखें २।१५१ की पाद-टिप्पण।

× मिलाइए, २।१५०।

६४. सव्वेसिं जीवियं पियं।

६५. तं परिगिज्झ दुपयं चउप्पयं अभिजुंजियाणं संसिंचियाणं तिविहेणं जा वि से तत्थ मत्ता भवइ—अप्पा वा बहुगा वा।

६६. से तत्थ गढिए चिट्ठइ, भोयणाए।

६७. तओ से एगया विपरिसिट्ठं संभूयं महोवगरणं भवइ।

६८. तं पि से एगया दायाया विभयंति, अदत्तहारो वा से अवहरति, रायाणो वा से विलुंपंति, णस्सति वा से, विणस्सति वा से, अगारदाहेण वा से डज्झइ।

६९. इति से परस्स अट्ठाए कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासुवेइ।

७०. मुणिणा हु एयं पवेइयं।

७१. अणोहंतरा एते, नो य ओहं तरित्तए।
अतीरंगमा एते, नो य तीरं गमित्तए।
अपारंगमा एते, नो य पारं गमित्तए॥

७२. आयाणिज्जं च आयाय, तम्मि ठाणे ण चिट्ठइ।
वितहं पप्पखेयण्णे, तम्मि ठाणम्मि चिट्ठइ॥

७३. उद्देसो पासगस्स णत्थि।

६४. सब प्राणियों को जीवन प्रिय है।

६५. पुरुष जीवन जीने के हेतु द्विपद (कर्मकर) और चतुष्पद (पशु) का परिग्रह कर उन्हें काम में लाता है। उनके द्वारा वह अर्थ का संवर्धन करता है। अपने, पराए या दोनों के सम्मिलित प्रयत्न से उसके पास अल्प या बहुत अर्थ की मात्रा हो जाती है।

६६. वह उस अर्थ-राशि में आसक्त रहता है और भोग के लिए [उसका संरक्षण करता है]।

६७. वह भोग के बाद बची हुई प्रचुर अर्थ-राशि से महान् उपकरण वाला हो जाता है।

६८. एक समय ऐसा आता है कि उस (अर्जित और संरक्षित अर्थ-राशि या उपकरण-राशि) से दायाद हिस्सा बंटा लेते हैं या चोर उसका अपहरण कर लेते हैं, या राजा उसे छीन लेते हैं, या वह नष्ट-विनष्ट हो जाती है या गृह-दाह के साथ जल जाती है।

६९. इस प्रकार अज्ञानी पुरुष दूसरे [दायाद आदि के] लिए क्रूर कर्म करता हुआ [दुःख का निर्माण करता है]। वह उस दुःख से मूढ़ होकर विपर्यास को प्राप्त होता है—सुख का अर्थी होकर दुःख को प्राप्त होता है।[११]

७०. यह मुनि (भगवान् महावीर) ने कहा है।[१२]

७१. ये (विपर्यास को प्राप्त होने वाले) अनोघंतर हैं—संसार-प्रवाह को तैरने में समर्थ नहीं हैं।
ये अतीरंगम हैं—तीर तक पहुंचने में समर्थ नहीं हैं।
ये अपारंगम हैं—पार तक पहुंचने में समर्थ नहीं हैं।

७२. अनात्मज्ञ पुरुष सत्य को प्राप्त कर उस स्थान में स्थित नहीं होता। वह असत्य को प्राप्त कर उस स्थान में स्थित होता है।

७३. द्रष्टा (सत्यदर्शी) के लिए कोई निर्देश नहीं है।

७४. बाले पुण णिहे कामसमणुण्णे असमियदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टइ।

—त्ति बेमि।

चउत्थो उद्देसो

भोग-भोगि-दोस-पदं

७५. तओ से एगया रोग-समुप्पाया समुप्पज्जंति।

७६. जेहिं वा सद्धिं संवसति ते वा णं एगया णियया पुव्विं परिवयंति, सो वा ते णियगे पच्छा परिवएज्जा।

७७. **नालं ते तव ताणाए** वा, सरणाए वा।
तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा, सरणाए वा।

७८. **जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं।**

७९. भोगामेव अणुसोयंति।

८०. इहमेगेसिं माणवाणं।

८१. तिविहेण जावि से तत्थ मत्ता भवइ—अप्पा वा बहुगा वा।

८२. से तत्थ गढिए चिट्ठति, भोयणाए।

७४. अज्ञानी पुरुष स्नेहवान् और काम-प्रिय होकर दुःख का शमन नहीं कर पाता। वह [शारीरिक और मानसिक दुःखों से] दुःखी बना हुआ दुःखों के आवर्त में अनुपरिवर्तन करता है।

—ऐसा मैं कहता हूं।

चतुर्थ उद्देशक

भोग और भोगी के दोष

७५. उसके पश्चात् [अर्थ-संचय होने पर भी] एकदा (भोगकाल में) मनुष्य के शरीर में रोग के उत्पात उत्पन्न हो जाते हैं (—वह उसका भोग कर ही नहीं पाता)।

७६. वह जिनके साथ रहता है, वे आत्मीय जन एकदा उसके तिरस्कार की पहल करते हैं। बाद में वह भी उनका तिरस्कार करने लग जाता है।

७७. हे पुरुष ! वे स्वजन तुम्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हैं। तुम भी उन्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हो।

७८. दुःख और सुख प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना होता है—यह जानकर [मनुष्य इन्द्रिय और मन पर विजय प्राप्त करे]।

७९. [अजितेंद्रिय पुरुष] भोग के विषय में ही सोचते रहते हैं।

८०. [यह भोग-चिंता] उन कुछ मनुष्यों के होती है, [जो भोग के विपाक को नहीं जानते]।

८१. अपने, पराए या दोनों के सम्मिलित प्रयत्न से उसके पास अल्प या बहुत अर्थ की मात्रा हो जाती है।

८२. वह उस अर्थ-राशि में आसक्त रहता है और भोग के लिए उसका संरक्षण करता है।

८३. ततो से एगया विपरिसिट्ठं संभूयं महोवगरणं भवति।

८४. तं पि से एगया दायाया विभयंति, अदत्तहारो वा से अवहरति, रायाणो वा से विलुंपंति, णस्सइ वा से, विणस्सइ वा से, अगारडाहेण वा डज्झइ।

८५. इति से परस्स अट्ठाए कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासुवेइ।

८६. आसं च छंदं च विगिंच धीरे।

८७. तुमं चेव तं सल्लमाहट्टु।

८८. जेण सिया तेण णो सिया।

८९. इणमेव णावबुज्झंति, जे जणा मोहपाउडा।

९०. थीभि लोए पव्वहिए।

९१. ते भो वयंति—एयाइं आयतणाइं।

९२. से दुक्खाए मोहाए माराए णरगाए णरग-तिरिक्खाए।

९३. सततं मूढे धम्मं णाभिजाणइ।

९४. उदाहु वीरे—**अप्पमादो महामोहे।**

९५. अलं कुसलस्स पमाएणं।

८३. वह भोग के बाद बची हुई प्रचुर अर्थ-राशि से महान् उपकरण वाला हो जाता है।

८४. एक समय ऐसा आता है कि उस (अर्जित और संरक्षित अर्थ-राशि या उपकरण-राशि) से दायाद हिस्सा बंटा लेते हैं, या चोर उसका अपहरण कर लेते हैं, या राजा उसे छीन लेते हैं, या वह नष्ट-विनष्ट हो जाती है या गृहदाह के साथ जल जाती है।

८५. इस प्रकार अज्ञानी पुरुष दूसरे (दायाद आदि) के लिए क्रूर कर्म करता हुआ [दुःख का निर्माण करता है।] वह उस दुःख से मूढ़ होकर विपर्यास को प्राप्त होता है—सुख का अर्थी होकर दुःख को प्राप्त होता है।

८६. हे धीर ! तू आशा और स्वच्छंदता को छोड़।

८७. उस (आशा और स्वच्छंदता के) शल्य का सृजन तू ने ही किया है।

८८. जिससे [सुख] होता है, उससे नहीं भी होता।

८९. मोह से अतिशय आवृत मनुष्य इसे (पौद्गलिक सुख की अनेकान्तिकता को) भी नहीं समझ पाते।

९०. यह लोक स्त्रियों के द्वारा पराजित है।

९१. हे पुरुष ! वे (स्त्रियों से पराजित लोग कहते हैं—) 'ये स्त्रियां आयतन (भोग-सामग्री) हैं।'

९२. [भोग की अधीनता] उसके दुःख, मोह, मृत्यु, नरक और नरकानन्तर तिर्यंच गति के लिए होती है।

९३. सतत मूढ़ मनुष्य धर्म को नहीं जान पाता।

९४. महावीर ने कहा—[साधक] अब्रह्मचर्य में प्रमत्त न हो।

९५. कुशल को प्रमाद से क्या प्रयोजन ?

९६. संति-मरणं संपेहाए, भेउरधम्मं संपेहाए ।

९७. णालं पास ।

९८. अलं ते एएहिं ।

९९. एयं पास मुणी ! महब्भयं ।

१००. **णाइवाएज्ज कंचणं ।**

१०१. **एस वीरे पसंसिए,** जे ण णिविज्जति आदाणाए ।

१०२. **ण मे देति ण कुप्पिज्जा, थोवं लद्धुं न खिंसए ।**
पडिसेहिओ परिणमिज्जा ।

१०३. एयं मोणं समणुवासेज्जासि ।

—त्ति बेमि ।

पंचमो उद्देसो

आहारस्स अणासत्ति-पदं

१०४. जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं लोगस्स कम्म-समारंभा कज्जंति तंजहा—अप्पणो से पुत्ताणं धूयाणं सुण्हाणं णातीणं धातीणं राईणं दासाणं दासीणं कम्मकराणं कम्मकरीणं आएसाए, पुढो पहेणाए, सामासाए, पायरासाए ।

९६. [अप्रमाद] शांति है और [प्रमाद] मृत्यु है—यह देखने वाला [प्रमाद कैसे कर सकता है ?]
[शरीर] क्षणभंगुर है—यह देखने वाला [प्रमाद कैसे कर सकता है ?]

९७. तू देख ! [ये भोग अतृप्ति की आग बुझाने में] समर्थ नहीं हैं।

९८. फिर इन [अतृप्ति की आग को भड़काने वाले भोगों] से तुझे क्या लाभ ?

९९. मुने ! तू देख ! यह (भोग) महा भयंकर है।

१००. पुरुष किसी के प्राणों का अतिपात न करे।[१३]

१०१. वह वीर प्रशंसनीय होता है, जो संयम-जीवन से खिन्न नहीं होता।

१०२. यह मुझे [भिक्षा] नहीं देता [—यह सोचकर] उस पर क्रोध न करे। थोड़ा प्राप्त होने पर निन्दा न करे। [गृहस्वामी] प्रतिषेध करे, तो उसी क्षण वहां से चला जाए।[१४]

१०३. मुनि इस ज्ञान× का सम्यक् अनुपालन करे।

—ऐसा मैं कहता हूं।

पंचम उद्देशक

आहार की अनासक्ति

१०४. असंयमी पुरुष अपने शरीर, पुत्र, पुत्री, वधू, ज्ञाति, धाय, राजा, दास, दासी, नौकर, नौकरानी पाहुने, विविध उपहार, सायंकालीन भोजन और प्रातःकालीन भोजन के लिए नाना प्रकार के शस्त्रों से कर्म-समारंभ करते हैं।

× मुनि का अर्थ ज्ञानी होता है; इसलिए मौन का अर्थ ज्ञान है।

१०५. सन्निहि-सन्निचओ कज्जइ इहमेगेसिं माणवाणं भोयणाए।

१०६. समुट्ठिए अणगारे आरिए आरियपण्णे आरियदंसी 'अयं संधी'ति अदक्खु।

१०७. से णाइए, णाइआवए, ण समणुजाणइ।

१०८. **सव्वामगंधं परिण्णाय, णिरामगंधो परिव्वए।**

१०९. **अदिस्समाणे कय-विक्कएसु।** से ण किणे, ण किणावए, किणंतं ण समणुजाणइ।

११०. से भिक्खू कालण्णे बलण्णे मायण्णे खेयण्णे खणयण्णे विणयण्णे समयण्णे भावण्णे, परिग्गहं अममायमाणे, कालेणुट्ठाई, अपडिण्णे।

१११. दुहओ छेत्ता नियाइ।

११२. वत्थं पडिग्गहं, **कंबलं पायपुंछणं, उग्गहं च कडासणं। एतेसु चेव जाएज्जा।**

११३. लद्धे आहारे अणगारे मायं जाणेज्जा, से जहेयं भगवया पवेइयं।

१०५. [वे] कुछ लोगों के भोजन के लिए [दूध, दही आदि पदार्थों की] सन्निधि और [चीनी, घृत आदि पदार्थों का] सन्निचय करते हैं।

१०६. आर्य, आर्यप्रज्ञ, आर्यदर्शी और संयम में तत्पर अनगार यह 'भोजन-काल है', यह देखकर [भिक्षा के लिए जाए]।

१०७. वह [अकल्पनीय पदार्थ का] स्वयं ग्रहण न करे, दूसरे से न करवाए और करने वाले का अनुमोदन न करे।

१०८. वह सब प्रकार के अशुद्ध भोजन का परित्याग कर शुद्धभोजी रहता हुआ परिव्रजन करे।

१०९. वह क्रय और विक्रय में व्यापृत न हो—स्वयं क्रय न करे, दूसरों से न करवाए और करने वाले का अनुमोदन न करे।

११०. वह भिक्षु कालज्ञ (भिक्षा-काल को जाननेवाला),
बलज्ञ (भिक्षाटन की शक्ति को जाननेवाला),
मात्रज्ञ (ग्राह्य वस्तु की मात्रा को जाननेवाला),
क्षेत्रज्ञ (भिक्षाचर्या के उपयुक्त क्षेत्र को जाननेवाला),
क्षणज्ञ (अवसर को जाननेवाला),
विनयज्ञ (भिक्षाचर्या की आचारसंहिता को जाननेवाला),
समयज्ञ (सिद्धान्त को जाननेवाला),
भावज्ञ (दाता के प्रिय-अप्रिय भाव को जाननेवाला),
परिग्रह पर ममत्व नहीं करने वाला, उचित समय पर अनुष्ठान करने वाला और अप्रतिज्ञ (भोजन के प्रति संकल्प-रहित) हो।

१११. वह [राग और द्वेष] दोनों [बंधनों] को छिन्न कर नियमित जीवन जीता है।

११२. वह वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोंछन, अवग्रह (स्थान) और कटासन—[जो गृहस्थ के अपने लिए निर्मित हो], उनकी ही याचना करे।

११३. आहार प्राप्त होने पर मुनि मात्रा को जाने, भगवान् ने जिसका निर्देश किया है।[१५]

११४. लाभो त्ति न मज्जेज्जा।

११५. अलाभो त्ति ण सोयए।

११६. बहुं पि लद्धुं ण णिहे।

११७. परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्केज्जा।

११८. अण्णहा णं पासए परिहरेज्जा।

११९. एस मग्गे आरिएहिं पवेइए।

१२०. जहेत्थ कुसले णोवलिंपिज्जासि त्ति बेमि।

काम-अणासत्ति-पदं

१२१. कामा दुरतिक्कमा।

१२२. जीवियं दुप्पडिवूहणं।

१२३. कामकामी खलु अयं पुरिसे।

१२४. से सोयति जूरति तिप्पति पिड्डति परितप्पति।

१२५. आयतचक्खू लोग-विपस्सी लोगस्स अहो भागं जाणइ, उड्ढं भागं जाणइ, तिरियं भागं जाणइ।

१२६. गढिए अणुपरियट्टमाणे।

११४. [इष्ट वस्तु का] लाभ होने पर मद न करे।

११५. [इष्ट वस्तु का] लाभ न होने पर शोक न करे।

११६. [वस्तु का] अधिक मात्रा में लाभ होने पर भी उसका संग्रह न करे।

११७. परिग्रह से अपने-आप को दूर रखे।[१६]

११८. तत्त्वदर्शी [वस्तुओं का] परिभोग अन्यथा करे [जैसे तत्त्व नहीं जानने वाला मनुष्य करता है, वैसे न करे]।[१७]

११९. यह (अमूर्च्छा का) मार्ग तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादित है।
१२०. जिससे कुशल पुरुष इस (परिग्रह) में लिप्त न हो।

—ऐसा मैं कहता हूं।

काम की अनासक्ति

१२१. काम दुर्लंघ्य हैं।

१२२. जीवन को बढ़ाया नहीं जा सकता—छिन्न आयुष्य को सांधा नहीं जा सकता।

१२३. यह पुरुष काम-कामी है—काम-भोगों की कामना करने वाला है।

१२४ काम-कामी पुरुष [मन का संकल्प पूर्ण न होने पर] शोक करता है, [काम की अप्राप्ति या वियोग होने पर] शरीर से सूख जाता है, आंसू बहाता है, पीड़ा और परिताप का अनुभव करता है।

१२५. दीर्घदर्शी पुरुष लोकदर्शी होता है। वह लोक के अधोभाग को जानता है, ऊर्ध्वभाग को जानता है और तिरछे भाग को जानता है।[१८]

१२६. [काम-भोगों में] आसक्त पुरुष अनुपरिवर्तन कर रहा है (उत्तरोत्तर कामों के पीछे चक्कर लगा रहा है)।[१९]

१२७. संधि विदित्ता इह मच्चिएहिं ।

१२८. एस वीरे पसंसिए, जे बद्धे पडिमोयए ।

१२९. जहा अंतो तहा बाहिं, जहा बाहिं तहा अंतो ।

१३०. अंतो अंतो देहंतराणि पासति पुढोवि सवंताइं ।

१३१. पंडिए पडिलेहाए ।

१३२. से मइमं परिण्णाय, मा य हु लालं पच्चासी ।

१३३. मा तेसु तिरिच्छमप्पाणमावातए ।

१३४. कासंकसे खलु अयं पुरिसे, बहुमाई,
कडेण मूढे पुणो तं करेइ लोभं ।

१३५. वेरं वड्ढेति अप्पणो ।

१३६. जमिणं परिकहिज्जइ, इमस्स चेव पडिवूहणयाए ।

१३७. अमरायइ महासड्ढी ।

१२७. पुरुष मरणधर्मा मनुष्य के [शरीर की] संधि को जानकर [कामासक्ति से मुक्त हो]।[२०]

१२८. वही वीर प्रशंसित होता है, जो [काम-वासना से] बद्ध को मुक्त करता है।

१२९. [यह शरीर] जैसा भीतर है, वैसा बाहर है; जैसा बाहर है, वैसा भीतर है।[२१/२२]

१३०. पुरुष इस अशुचि शरीर के भीतर से भीतर [पहुंच कर शरीर-धातुओं को] देखता है और झरते हुए विविध स्रोतों (अन्तरों) को भी देखता है।[२३]

१३१. पंडित पुरुष [काम के विपाक और शरीर की अशुचिता को] देखें।

१३२. वह मतिमान् पुरुष [काम और शरीर के यथार्थ स्वरूप को] जानकर और त्याग कर लार को न चाटे—वान्त भोग का सेवन न करे।

१३३. वह अपने-आप को काम-भोगों के मध्य में न फंसाए।

१३४ [कामासक्त] पुरुष 'यह मैंने किया और यह मैं करूंगा'—[इस स्मृति और कल्पना की उधेड़बुन में रहता है]। वह बहुतों को ठगता है। वह अपने ही कृत कार्यों से मूढ़ होकर [काम-सामग्री पाने को] पुनः ललचाता है।[२४]

१३५. [वह माया और लोभ का आचरण कर जन-जन के साथ] अपना वैर बढ़ाता है।+

१३६. यह जो मैं कहता हूं [कि कामी मनुष्य माया का आचरण करता है और वैर-विरोध बढ़ाता है, वह] इस [शरीर] की पुष्टि के लिए ही [ऐसा करता है]।[२४]

१३७. [काम और उसके साधनभूत अर्थ में] जिसकी महान् श्रद्धा होती है, वह अमर की भांति आचरण करता है×।[२५]

+ मिमाइए—सूयगडो, १।६।२,३।

× सूयगडो १।१०।१८ में अमर के स्थान में अजरामर का प्रयोग मिलता है।

१३८. अट्टमेतं पेहाए ।

१३६. अपरिण्णाए कंदति।

तिगिच्छा-पदं

१४०. से तं जाणह जमहं बेमि ।

१४१. तेइच्छं पंडिते पवयमाणे ।

१४२. से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता ।

१४३. अकडं करिस्सामित्ति मण्णमाणे ।

१४४. जस्स वि य णं करेइ ।

१४५. अलं बालस्स संगेणं ।

१४६. जे वा से कारेइ बाले ।

१४७. ण एवं अणगारस्स जायति ।

—त्ति बेमि ।

१३८. तू देख, [जो अर्थार्जन में अमर की भांति आचरण करता था] वह पीड़ित है।

१३९. [अर्थ-संग्रह का] त्याग नहीं करने वाला क्रन्दन करता है।[२६]

व्याधि-चिकित्सा

१४०. तुम उसे जानो, जो मैं कहता हूं।[२८]

१४१. चिकित्सा-कुशल वैद्य चिकित्सा में प्रवृत्त हो रहा है।[२८]

१४२. वह [चिकित्सा के लिए[अनेक जीवों का हनन, छेदन, भेदन, लुंपन, विलुंपन और प्राण-वध करता है।[२८]

१४३. 'पहले किसी ने नहीं किया, [ऐसा आरोग्यवर्द्धक योग] मैं करूंगा'—यह मानता हुआ [वह जीवों का हनन आदि करता है]।[२८]

१४४. वह जिसकी चिकित्सा करता है, [वह भी उस हिंसा में सम्मिलित होता है]।[२८]

१४५. उस वाल [अपरिपक्व मति वाले मुनि] को देहासक्ति [या हिंसामय चिकित्सा-प्रसंग से क्या लाभ] ?[२७,२१]

१४६. जो ऐसी चिकित्सा करवाता है, वह वाल है।[२८]

१४७. अनगार ऐसी चिकित्सा नहीं कर सकता।[२८]

—ऐसा मैं कहता हूं।

छट्ठो उद्देसो

परिग्गह-परिच्चाय-पदं

१४८. से तं संबुज्झमाणे, आयाणीयं समुट्ठाए।

१४९. तम्हा पावं कम्मं, णेव कुज्जा न कारवे।

१५०. सिया से एगयरं विप्परामुसइ, छसु अण्णयरंसि कप्पति।

१५१. सुहट्ठी लालप्पमाणे सएण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेति।

१५२. सएण विप्पमाएण, पुढो वयं पकुव्वति।

१५३. जंसिमे पाणा पव्वहिया। पडिलेहाए णो णिकरणाए।

१५४. एस परिण्णा पवुच्चइ।

१५५. कम्मोवसंती।

१५६. जे ममाइय-मतिं जहाति, से जहाति ममाइयं।

षष्ठ उद्देशक

परिग्रह-परित्याग

१४८. वह (संयमी साधक) उसे (परिग्रह के परिणाम को) समीचीन दृष्टि से समझकर संयम की साधना में सावधान हो जाता है।

१४९. इसलिए वह पापकर्म (संग्रह) स्वयं न करे और दूसरों से न करवाए।

१५०. यह सम्भव है कि जो किसी एक अव्रत का स्पर्श करता है, वह छहों [हिंसा, असत्य, अस्तेय, अब्रह्मचर्य, परिग्रह और रात्रि-भोजन] में से किसी भी [अव्रत] का स्पर्श कर सकता है (—सबका करता है)।[९]

१५१. सुख का अर्थी [संग्रह में प्रवृत्त होता है]। [जो सुख का अर्थी होता है, वह] बार-बार [सुख की] कामना[×] करता है। [इस प्रकार वह] अपने द्वारा कृत [कामना की] व्यथा से मूढ़ होकर विपर्यास को प्राप्त होता है [—सुख का अर्थी होकर दुःख को प्राप्त होता है]।

१५२. वह अपने अति प्रमाद के कारण गतिचक्र[+] (जन्म-शृंखला) का निर्माण करता है।

१५३. ये प्राणी जिसमें व्यथित होते हैं, यह देखकर उस (संग्रह) का संकल्प न करे।

१५४. इसे (ममत्व-विसर्जन को) परिज्ञा (विवेक) कहा जाता है।

१५५. [यह परिज्ञा] कर्म की उपशान्ति है।[१०]

१५६. जो परिग्रह की बुद्धि का त्याग करता है, वही परिग्रह को त्याग करता है।

× लालप्पमाणे की व्याख्या चूर्णिकार ने इस प्रकार की है—
'पुणो पुणो लप्पमाणो लालप्पमाणो, जं भणितं सुहं पत्थेमाणो ॥'

\+ गति के अर्थ में चक्र शब्द का प्रयोग ऐतरेय ब्राह्मण में भी मिलता है—
"चक्रः सुवर्णा उपस्तेदुरिन्द्र निरुक्तमभा परिदधाति।"
सायणाचार्य ने अपने भाष्य में चक्र का अर्थ गति किया है—
चक्रशोभालक्षणस्य चक्र इति रूपम्। (—ऐतरेय ब्राह्मण, अध्याय १२, खण्ड ८)

१५७. से हु दिट्ठपहे मुणी, जस्स णत्थि ममाइयं ।

१५८. तं परिण्णाय मेहावी ।

१५९. विदित्ता लोगं, वंता लोगसण्णं, से मतिमं परक्कमेज्जासि त्ति बेमि ।

अणासत्तस्स ववहार-पदं

१६०. णारतिं सहते वीरे, वीरे णो सहते रतिं ।
जम्हा अविमणे वीरे, तम्हा वीरे ण रज्जति ॥

१६१. सद्दे य फासे अहियासमाणे ।

१६२. णिव्विंद णंदिं इह जीवियस्स ।

१६३. मुणी मोणं समादाय, धुणे कम्म-सरीरगं ।

१६४. पंतं लूहं सेवंति वीरा समत्तदंसिणो ।

१५७. जिसके पास परिग्रह नहीं है, उसी मुनि ने पथ को देखा है।

१५८. मेधावी पुरुष उसे (परिग्रह के स्वरूप को) जाने और उसका त्याग करे।

१५९. मतिमान् पुरुष [परिग्रह-] लोक [के परिणामों] को जानकर लोक-संज्ञा (अर्थासक्ति) को त्याग कर [संयम में] पराक्रम करे। ऐसा मैं कहता हूं।

अनासक्त का व्यवहार

१६०. वीर पुरुष [संयम-साधना में उत्पन्न] अरति को सहन नहीं करता—तत्काल ध्यान के द्वारा उसे मन से निकाल देता है।
वह [असंयम में उत्पन्न] रति को सहन नहीं करता—तत्काल ध्यान के द्वारा उसका रेचन कर देता है, क्योंकि वह [इष्ट और अनिष्ट विषयों के प्रति] विमनस्क नहीं होता—मध्यस्थ रहता है। इसलिए वह आसक्त नहीं होता।[11]

१६१. [अनासक्त] शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श को सहन करता है—उनके प्रति राग-द्वेषपूर्ण मन का निर्माण नहीं करता।

१६२. पुरुष ! तू [असंयमी] जीवन में होने वाले प्रमोद से अपना आकर्षण हटा ले।

१६३. मुनि ज्ञान[+] को प्राप्त कर कर्म-शरीर को प्रकम्पित करे।

१६४. समत्वदर्शी[×] वीर प्रान्त (नीरस) और रूक्ष [आहार आदि] का सेवन करते हैं।

[+] देखिए, २.१०२ का पाद-टिप्पण।

[×] वृत्तिकार ने 'सम्मत्तदंसिणो' इस पद का मूल अर्थ समत्वदर्शी और वैकल्पिक अर्थ सम्यक्त्वदर्शी किया है। इससे प्रतीत होता है कि उनके सामने मूल पाठ 'समत्तदंसिणो' रहा है। यहां 'समत्वदर्शी' अर्थ अधिक संगत है, क्योंकि समत्वदर्शी ही नीरस आहार का समभाव से सेवन कर सकता है। दशवैकालिक (५।१।९७) के निम्नलिखित पद से इसकी पुष्टि होती है—

तित्तगं व कडुयं व कसायं अंबिलं व महुरं लवणं वा।
एय लद्धमन्नट्ठ-पउत्तं महु-घयं व भुंजेज्ज संजए॥

—गृहस्थ के लिए बना हुआ तीता (तिक्त) या कडुवा, कसैला या खट्टा, मीठा या नमकीन, जो भी आहार उपलब्ध हो उसे संयमी मुनि मधुघृत की भांति खाए।

१७६. एत्थंपि जाण, सेयंति णत्थि ।

१७७. के यं पुरिसे ? कं च णए ?

१७८. एस वीरे पसंसिए, जे बद्धे पडिमोयए ।

१७९. उड्ढं अहं तिरियं दिसासु, से सव्वतो सव्वपरिण्णचारी ।

१८०. ण लिप्पई छणपएण वीरे ।

१८१. से मेहावी अणुग्घायणस्स खेयण्णे, जे य बंधप्पमोक्खमण्णेसी ।

१८२. कुसले पुण णो बद्धे, णो मुक्के ।

१८३. से जं च आरभे, जं च णारभे, अणारद्धं च णारभे ।

१८४. छणं छणं परिण्णाय, लोगसण्णं च सव्वसो ।

१८५. उद्देसो पासगस्स णत्थि ।

१८६. बाले पुण णिहे कामसमणुण्णे असमियदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टइ ।

—त्ति बेमि ।

१७६. तुम जानो—[धर्म-कथा की विधि न जानने वाले धर्मकथी द्वारा की जाने वाली] धर्म-कथा में भी श्रेय नहीं है।[15]

१७७. [धर्मकथी धर्म-कथा के समय परिषद् का विवेक करे—] 'यह पुरुष कौन है ? किस दर्शन का अनुयायी है ?'

१७८. वही वीर प्रशंसित होता है, जो [समीचीन उपदेश के द्वारा] बंधे हुए मनुष्यों को मुक्त करता है।

१७९. वह ऊंची दिशा, नीची दिशा और तिरछी दिशा—सब दिशाओं में सब ओर से समग्र परिज्ञा (विवेक) के द्वारा चलता है।

१८०. वीर पुरुष हिंसा-स्थान से लिप्त नहीं होता।

१८१. जो बंध से मुक्त होने की खोज करता है, वह मेधावी अहिंसा के मर्म को जान लेता है।

१८२. कुशल न बद्ध होता है और न मुक्त होता है।[16]

१८३. वह (कुशल) किसी प्रवृत्ति का आचरण करता है और किसी का आचरण नहीं करता; मुनि उसके द्वारा अनाचीर्ण प्रवृत्ति का आचरण न करे।

१८४. पुरुष प्रत्येक हिंसा-स्थान को जाने और छोड़े। उसी प्रकार लोक-संज्ञा (लौकिक सुख) को सब प्रकार से जाने और छोड़े।

१८५. द्रष्टा (सत्यदर्शी) के लिए कोई निर्देश नहीं है।

१८६. अज्ञानी पुरुष स्नेहवान् और काम-प्रिय होकर दुःख का शमन नहीं कर पाता। वह [शारीरिक और मानसिक दुःखों से] दुःखी बना हुआ दुःखों के आवर्त में अनुपरिवर्तन करता रहता है।

—ऐसा मैं कहता हूं।

टिप्पण

सूत्र—१

१. गुण का अर्थ है—इन्द्रिय-विषय। वह दो प्रकार का होता है—इष्ट और अनिष्ट। इष्ट गुण के प्रति राग और अनिष्ट गुण के प्रति द्वेष होता है। इस प्रकार गुण से कषाय बढ़ता है और कषाय से संसार बढ़ता है—जन्म-मरण की परम्परा बढ़ती है। इस कारण-कार्य की परम्परा में गुण संसार का मूल आधार बन जाता है। इसीलिए गुण और मूलस्थान (संसार) में एकता आरोपित की गई है।

सूत्र—२

२. विषयार्थी मनुष्य में दो बातें बढ़ती हैं—ममत्व और प्रमाद। इनसे अभिभूत होकर ही वह अर्थ-लोलुप बनता है।

सूत्र—५

३. सामान्यतः मनुष्य की आयु सौ वर्ष की होती है। वह दस दशाओं में विभक्त है। चौथी दशा (४० वर्ष) तक शरीर की आभा और बल पूर्ण विकसित रहते हैं। उसके बाद उनकी हानि शुरू हो जाती है। पचास वर्ष की अवस्था में चक्षु तथा अन्य इन्द्रियों की शक्ति भी हीन होने लग जाती है।

सूत्र—६

४. मूढ़ता के दो अर्थ होते हैं—इन्द्रिय-हानि और आसक्ति। इन्द्रिय-हानि, जैसे—सुनाई न देना या ऊंचा सुनना।

आसक्ति—जैसे-जैसे इन्द्रियों की शक्ति हीन होती है, वैसे-वैसे उनके विषयों के प्रति आसक्ति बढ़ती जाती है। इस प्रकार वृद्ध मनुष्य मूढ़ स्वभाव वाला बन जाता है।

सूत्र—१०

५. सामान्यतया मनुष्य हिंसा और परिग्रह में विहार करता है। इनके बिना

जीवन नहीं चल सकता—ऐसी धारणा रूढ़ होती है। असंयम इसी धारणा की परिणति है। अध्यात्म ने इस धारणा के सम्मुख अहिंसा और अपरिग्रह का सिद्धान्त प्रतिपादित किया और यह स्थापित किया कि अहिंसा और अपरिग्रह के द्वारा भी जीवन चल सकता है। इस स्थापना से संयम की निष्पत्ति हुई। वह संयम असंयम में जीने वालों के लिए बहुत आश्चर्य का विषय है। इसलिए अध्यात्म की भाषा में वह 'अहोविहार' है।

सूत्र—२७

६. संयम में रति और असंयम में अरति करने से चैतन्य और आनन्द का विकास होता है।

संयम में अरति और असंयम में रति करने से उसका ह्रास होता है; इसलिए साधक को यह निर्देश दिया है कि वह संयम से होने वाली अरति का निवर्तन करे।

सूत्र—३१-३४

७. कोई प्यासा हाथी पानी पीने को झील में गया। वह दलदल में फंस गया। उसने जैसे-जैसे निकलने का प्रयत्न किया, वैसे-वैसे वह उसमें फंसता गया। आखिर वह मर गया। इसी प्रकार कोई मनुष्य मोह की प्यास बुझाने के लिए विषयों के जलाशय में गया। वह आसक्ति के दलदल में फंस गया। वह जैसे-जैसे उससे निकलने का प्रयत्न करता है, वैसे-वैसे उसमें फंसता जाता है। आखिर संयमी-जीवन से उसकी मृत्यु हो जाती है। कोई साधक लज्जा, गौरव या परवशता के कारण मुनिवेष को नहीं छोड़ता और विषयों की खोज करता है। वह वेष में गृहस्थ नहीं होता और आचरण में मुनि नहीं होता।

सूत्र—३६-३७

८. अलोभ को लोभ से जीतना—यह प्रतिपक्ष का सिद्धान्त है। शान्ति से क्रोध, मृदुता से मान और ऋजुता से माया निरस्त हो जाती है, वैसे ही अलोभ से लोभ निरस्त हो जाता है। जैसे आहार-परित्याग ज्वर वाले के लिए औषधि है, वैसे ही लोभ का परित्याग असंतोष की औषधि है—

यथाहारपरित्यागः ज्वरतस्यौषधं तथा।
लोभस्यैवं परित्यागः असंतोषस्य भेषजम्॥

कुछ पुरुष लोभ-सहित दीक्षित होते हैं, किन्तु यदि वे अलोभ से लोभ को जीतने का प्रयत्न करते हैं, तो वे वस्तुतः साधक ही होंगे। जो पुरुष लोभ-रहित होकर दीक्षित होते हैं, वे ध्यान के द्वारा सम्राट भरत चक्रवर्ती की भांति शीघ्र ही

ज्ञानावरण और दर्शनावरण से मुक्त होकर ज्ञाता और द्रष्टा बन जाते हैं।

सूत्र—४१

९. कुछ शक्ति के स्रोत होते हैं। उन्हें प्राप्त कर मनुष्य भोग, सुख, विजय, अर्थ, यश और धर्म—इन प्रयोजनों की पूर्ति करना चाहता है।

१. **आत्म-बल (शरीर-बल)**—शारीरिक शक्ति की वृद्धि के लिए वह मद्य और मांस का सेवन करता है।

२. **ज्ञाति-बल**—वह अजेय होने के लिए स्वजन-वर्ग की शक्ति को प्राप्त करता है।

३. **मित्र-बल**—अर्थ-प्राप्ति और मानसिक तुष्टि के लिए मित्र-शक्ति का आश्रय लेता है।

४-५. **प्रेत्य-बल, देव-बल**—परलोक में सुख प्राप्ति करने के लिए तथा दैवी शक्ति का उपयोग करने के लिए पशु-बलि आदि करता है।

६. **राज-बल**—आजीविका के लिए राजा की सेवा करता है।

७. **चोर-बल**—चोरी का भाग प्राप्त करने के लिए चोरों के साथ गठबन्धन करता है।

८-१०. **अतिथि-बल, कृपण-बल, श्रमण-बल**—अतिथि, कृपण (विकलांग याचक) और श्रमणों को धन, यश और धर्म का अर्थी होकर दान देता है।

सूत्र—६३

१०. 'सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय'—यहां यह चर्चा परिग्रह के प्रकरण में की गई है। परिग्रह का संचय करने वाला अपना दुःख दूर करने और सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। वह दूसरों के सुख की हानि न हो, इसका ध्यान नहीं रखता। वह इस सत्य को भुला देता है जैसे मुझे सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, वैसे ही दूसरों को भी सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है। अर्थार्जन के क्षेत्र में सामाजिक स्तर पर शोषण और अनैतिकता चलती है, वह इसी सत्य की विस्मृति का परिणाम है। भगवान् ने बार-बार इस सत्य की याद दिलाकर व्यवहार को आत्म-तुला की भूमिका पर प्रतिष्ठित करने का दिशा-निर्देश दिया है।

सूत्र—६९

११. आम का फल जैसे आम कहलाता है, वैसे ही आम का बीज भी आम कहलाता है। इसी प्रकार प्रतिकूल संवेदन जैसे दुःख कहलाता है, वैसे ही प्रतिकूल संवेदन का हेतुभूत कर्म भी दुःख कहलाता है। जो दार्शनिक कार्य और कारण को पृथक्-पृथक देखते हैं, वे दुःख के मूल को समाप्त नहीं कर पाते। फलतः वह मूल बार-बार

फलित होता है—मनुष्य को मूढ़ बनाता है।

सूत्र—७०

१२. जो क्रूर कर्म करता है, वह मूढ़ होता है और जो मूढ़ होता है, वह विपर्यास को प्राप्त होता है—यह कार्य-कारण की शृंखला है।

सूत्र—१००

१३. भोग और हिंसा एक ही रेखा के दो बिन्दु हैं। ऐसा कोई भोगी नहीं है, जो भोग का सेवन करता है और उसके लिए हिंसा नहीं करता। जहां हिंसा है, वहां भोग हो भी सकता है और नहीं भी होता। जहां भोग है, वहां हिंसा निश्चित है। अतः भोग के संदर्भ में अहिंसा का उपदेश बहुत मूल्यवान् है।

सूत्र—१०२

१४. जीवन-यापन के लिए भोजन आवश्यक है। मुनि गृहस्थ के घर से उसे प्राप्त करता है। वह (भोजन) भोग भी बन सकता है और त्याग भी बन सकता है। राग-द्वेष-मुक्त भाव से लिया हुआ और किया हुआ भोजन भी त्याग होता है। राग-द्वेष-युक्त भाव से लिया हुआ और किया हुआ भोजन भोग बन जाता है। त्याग या संयम की साधना करने वाला मुनि भोजन लेने के अवसर पर क्रोध, निंदा आदि आवेशपूर्ण व्यवहार न करे। मन को शांत और संतुलित रखे।

सूत्र—११३

१५. भोजन की मात्रा का निश्चित माप नहीं किया जा सकता। उसका सम्बन्ध भूख से है। न सबकी भूख समान होती है और न सबकी भोजन की मात्रा। फिर भी आनुपातिक दृष्टि से भगवान् ने भोजन की मात्रा बत्तीस कौर बतलाई और उससे कुछ कम खाने का निर्देश दिया।

सूत्र—११७

१६. मुनि आहार, वस्त्र आदि प्राप्त करे, उस समय भी वह अपने-आप को परिग्रह से बचाए। इन प्राप्त होने वाले आहार और वस्त्र को 'मैं स्वयं उपभोग करूंगा, दूसरों को नहीं दूंगा' यह चिन्तन भी परिग्रह है। 'यह मुझे जो प्राप्त हुआ है, वह मेरा नहीं है, आचार्य का है, संघ का है'—इस चिन्तन के द्वारा मुनि अपने-आप को परिग्रह से बचाए। अनेषणीय आहार, वस्त्र आदि न लेना, एषणीय आहार, वस्त्र आदि को प्राप्त कर उनमें आसक्त न होना, उनका संग्रह न करना—यह सब परिग्रह से बचने के लिए है।

धर्मोपकरण के बिना जीवन का निर्वाह नहीं होता। इसलिए उसका ग्रहण किया जाता है। फिर भी उसका यह चिन्तन बना रहना चाहिए कि नौका के विना समुद्र को पार नहीं किया जा सकता। समुद्र का पार पाने के लिए नौका आवश्यक हैं, किन्तु समुद्रयात्री उसमें आसक्त नहीं होता, वैसे ही जीवन चलाने के लिए आवश्यक धर्मोपकरण में मुनि को आसक्त नहीं होना चाहिए।

सूत्र—११८

१७. वस्तु का अपरिभोग और परिभोग—ये दो अवस्थाएं हैं। वस्तु का अपरिभोग एक निश्चित सीमा में ही हो सकता है। जहां जीवन है, शरीर है, वहां वस्तु का उपभोग-परिभोग करना ही होता है। एक तत्त्वदर्शी मनुष्य भी उसका उपभोग-परिभोग करता है और तत्त्व को नहीं जानने वाला भी। किन्तु इन दोनों के उद्देश्य, भावना और विधि में मौलिक अन्तर होता है—

	उद्देश्य	भावना	विधि
तत्त्व को नहीं जानने वाला	पौद्गलिक सुख	आसक्त	असंयत
तत्त्वदर्शी	आत्मिक विकास के लिए शरीर-धारण	अनासक्त	संयत

सूत्र—१२५

१८. चित्त को काम-वासना से मुक्त करने का पहला आलंबन है—लोक-दर्शन।

१. लोक का अर्थ है—भोग्य वस्तु या विषय। शरीर भोग्य वस्तु है। उसके तीन भाग हैं—

१. अधो भाग—नाभि से नीचे,

२. ऊर्ध्व भाग—नाभि से ऊपर,

३. तिर्यग् भाग—नाभि-स्थान।

प्रकारान्तर से उसके तीन भाग ये हैं—

१. अधो भाग—आंख का गड्ढा, गले का गड्ढा, मुख के बीच का भाग।

२. ऊर्ध्व भाग—घुटना, छाती, ललाट, उभरे हुए भाग।

३. तिर्यग् भाग—समतल भाग।

साधक देखे—शरीर के अधो भाग में स्रोत है, ऊर्ध्व भाग में स्रोत है और मध्य भाग में स्रोत—नाभि है। मिलाइए ५।११७।

शरीर को समग्र दृष्टि से देखने की साधना-पद्धति बहुत महत्त्वपूर्ण रही है। प्रस्तुत सूत्र में उसी शरीर-विपश्यना का निर्देश है। इसे समझने के लिए 'विशुद्धि-मग्ग' छट्ठा परिच्छेद पठनीय है। (विशुद्धिमग्ग, भाग १, पृ० १६०-१७५)।

२. प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या का दूसरा नय है—

दीर्घदर्शी साधक देखता है—लोक का अधो भाग विषय-वासना में आसक्त होकर शोक आदि से पीडित है।

लोक का ऊर्ध्व भाग भी विषय-वासना में आसक्त होकर शोक आदि से पीडित है।

लोक का मध्य भाग भी विषय-वासना में आसक्त होकर शोक आदि से पीडित है।

३. प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या का तीसरा नय यह है—

दीर्घदर्शी साधक मनुष्य के उन भावों को जानता है, जो अधो गति के हेतु बनते हैं; उन भावों को जानता है, जो ऊर्ध्व गति के हेतु बनते हैं; उन भावों को जानता है, जो तिर्यग् (मध्य) गति के हेतु बनते हैं।

४. इसकी त्राटक-परक व्याख्या भी की जा सकती है—

आंखों को विस्फारित और अनिमेष कर उन्हें किसी एक बिन्दु पर स्थिर करना त्राटक है। इसकी साधना सिद्ध होने पर ऊर्ध्व, मध्य और अधर—ये तीनों लोक जाने जा सकते हैं। इन तीनों लोकों को जानने के लिए इन तीनों पर ही त्राटक किया जा सकता है।

भगवान् महावीर ऊर्ध्व लोक, अधो लोक और मध्य लोक में ध्यान लगाकर समाधिस्थ हो जाते थे (आयारो, ९।४।१४)।

इससे ध्यान की तीन पद्धतियां फलित होती हैं—

१. आकाश-दर्शन,

२. तिर्यग् भित्ति-दर्शन,

३. भूगर्भ-दर्शन।

आकाश-दर्शन के समय भगवान् ऊर्ध्व लोक में विद्यमान तत्त्वों का ध्यान करते थे। तिर्यग् भित्ति-दर्शन के समय वे मध्य लोक में विद्यमान तत्त्वों का ध्यान करते थे। भूगर्भ-दर्शन के समय वे अधोलोक में विद्यमान तत्त्वों का ध्यान करते थे। ध्यान-विचार में लोक-चिंतन को आलंबन बताया गया है। ऊर्ध्व लोकवर्ती वस्तुओं का चिन्तन उत्साह का आलम्बन है। अधो लोकवर्ती वस्तुओं का चिन्तन पराक्रम का आलंबन है। तिर्यग् लोकवर्ती वस्तुओं का चिन्तन चेष्टा का आलंबन है। लोक-भावना में भी तीनों लोकों का चिन्तन किया जाता है। (नमस्कार स्वाध्याय, पृ० २४९)

सूत्र—१२६

९९. चित्त को काम-वासना से मुक्त करने का दूसरा आलंबन है—अनुपरिवर्तन के सिद्धान्त को समझना। काम के आसेवन से उसकी इच्छा शान्त नहीं होती।

कामी बार-बार उस काम के पीछे दौड़ता है। काम अकाम से शांत होता है। अनुपरिवर्तन के सिद्धान्त को समझने वाले व्यक्ति में काम के प्रति परवशता की अनुभूति जागृत होती है और वह एक दिन उसके पाश से मुक्त हो जाता है।

सूत्र—१२७

२०. चित्त को काम-वासना से मुक्त करने का तीसरा आलंबन है—संधि-दर्शन—शरीर की संधियों (जोड़ों) का स्वरूप-दर्शन कर उसके यथार्थ रूप को समझना; शरीर अस्थियों का ढांचा-मात्र है; उसे देखकर उससे विरक्त होना। शरीर में एक सौ अस्सी संधियां मानी जाती हैं। चौदह महासंधियां हैं—तीन दाएं हाथ की संधियां—कन्धा, कुहनी, पहुंचा। तीन बाएं हाथ की संधियां। तीन दाएं पैर की संधियां—कमर, घुटना, गुल्फ। तीन बाएं पैर की संधियां। एक गर्दन की संधि। एक कमर की संधि। मिलाइए, **विशुद्धिमग्ग**, भाग १, पृ० १६५।

सूत्र—१२९

२१. इसका वैकल्पिक अनुवाद इस प्रकार किया जा सकता है—साधक जैसा अन्तस् में वैसा बाहर में, जैसा बाहर में वैसा अन्तस् में रहे।

कुछ दार्शनिक अन्तस् की शुद्धि पर बल देते थे और कुछ बाहर की शुद्धि पर। भगवान् एकांगी दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करते थे। उन्होंने दोनों को एक साथ देखा और कहा—केवल अन्तस् की शुद्धि पर्याप्त नहीं है। बाहरी व्यवहार भी शुद्ध होना चाहिए। वह अन्तस् का प्रतिफल है। केवल बाहरी व्यवहार का शुद्ध होना भी पर्याप्त नहीं है। अन्तस् की शुद्धि बिना वह कोरा दमन बन जाता है। इसलिए अन्तस् भी शुद्ध होना चाहिए। अन्तस् और बाहर दोनों की शुद्धि ही धार्मिक जीवन की पूर्णता है।

सूत्र—१२९,१३०

२२. चित्त को कामना से मुक्त करने का चौथा आलम्बन है—शरीर की अशुचिता का दर्शन।

एक मिट्टी का घड़ा अशुचि से भरा है। वह अशुचि झर कर बाहर आ रही है। वह भीतर से अपवित्र है और बाहर से भी अपवित्र हो रहा है।

यह शरीर-घट भीतर से अशुचि है। इसके निरंतर झरते हुए स्रोतों से बाहरी भाग भी अशुचि हो जाता है।

यहां रुधिर है, यहां मांस है, यहां मेद है, यहाँ अस्थि है, यहां मज्जा है, यहां शुक्र है। साधक गहराई में पैठकर इन्हें देखता है।

देहान्तर—अन्तर का अर्थ है—विवर। साधक अन्तरों को देखता है। वह पेट

के अन्तर (नाभि), कान के अन्तर (छेद), दाएं हाथ और पार्श्व के अन्तर तथा बाएं हाथ और पार्श्व के अन्तर, रोम-कूपों तथा अन्य अन्तरों को देखता है। इस अन्तर-दर्शन और विवर-दर्शन से उसे शरीर का वास्तविक रूप ज्ञात हो जाता है। उसकी कामना शांत हो जाती है।

बौद्ध भिक्षु भी इन अशुभ निमित्तों और आलंबनों का प्रयोग करते थे। देखें—विसुद्धिमग्ग, भाग १, पृ० १६४, १६५।

सूत्र—१२४

२३. जो व्यक्ति किंकर्तव्यता (अब यह करना है, अब यह करना है, इस चिन्ता) से आकुल होता है, वह मूढ़ कहलाता है।

मूढ़ व्यक्ति सुख का अर्थी होने पर भी दुःख पाता है। वह आकुलतावश शयन-काल में शयन, स्नान-काल में स्नान और भोजन-काल में भोजन नहीं कर पाता—

सोउं सोवणकाले, मज्जणकाले य मज्जिउं लोलो।
जेमेउं च वराओ, जेमणकाले न चाएइ।

मूढ़ व्यक्ति स्वप्निल जीवन जीता है। वह काल्पनिक समस्याओं में इतना उलझ जाता है कि वास्तविक समस्याओं की ओर ध्यान ही नहीं दे पाता। एक भिखारी था। उसने एक दिन भैंस की रखवाली की। भैंस के मालिक ने प्रसन्न हो उसे दूध दिया। उसने दूध को जमा दही बना लिया। दही के पात्र को सिर पर रख कर चला। वह चलते-चलते सोचने लगा—'इसे मथकर घी निकालूंगा। उसे बेचकर व्यापार करूंगा। व्यापार में पैसे कमाकर ब्याह करूंगा। फिर लड़का होगा। फिर मैं भैंस लाऊंगा। मेरी पत्नी बिलोनी करेगी। मैं उसे पानी लाने को कहूंगा। वह उठेगी नहीं, तब मैं क्रोध में आकर एंडी के प्रहार से बिलोने को फोड़ डालूंगा। दही ढुल जाएगा। वह कल्पना में इतना तन्मय हो गया कि उसने ढुले हुए दही को साफ करने के लिए अपने सिर पर से कपड़ा खींचा। सिर पर रखा हुआ दही-पात्र गिर गया। उसके स्वप्नों की सृष्टि विलीन हो गई।

सूत्र—१२६

२४. काम और भूख—ये दोनों मौलिक मनोवृत्तियां हैं। मनुष्य इनकी सन्तुष्टि के लिए दूसरों पर अधिकार करना चाहता है। भौतिक शास्त्र इनकी सन्तुष्टि का उपाय बतलाता है। अध्यात्मशास्त्र इन्हें सहने की शक्ति के विकास का उपाय बतलाता है। एक अध्यात्मशास्त्री की वाणी में उस उपाय का निर्देश इस प्रकार मिलता है—

'शिश्नोदरकृते पार्थ ! पृथिवीं जेतुमिच्छसि।
जय शिश्नोदरं पार्थ ! ततस्ते पृथिवी जिता॥'

'राजन् ! काम और भूख की सन्तुष्टि के लिए तुम पृथ्वी को जीतना चाहते हो। तुम काम और भूख को ही जीत लो। पृथ्वी अपने-आप विजित हो जाएगी।'

भगवान् ने कहा—'काम और भूख की सन्तुष्टि के लिए दूसरों पर अधिकार करने वाला वैर-विरोधी की श्रृंखला को बढ़ाता है। सबके साथ मैत्री चाहने वाला ऐसा नहीं करता।'

सूत्र—१३७

२५. राजगृह में मगधसेना नाम की गणिका थी। वहां धन नाम का सार्थवाह आया। वह बहुत बड़ा धनी था। उसके रूप, यौवन और धन से आकृष्ट होकर मगधसेना उसके पास गई। वह आय और व्यय का लेखा करने में तन्मय हो रहा था। उसने मगधसेना को देखा तक नहीं। उसके अहं को चोट लगी। वह बहुत उदास हो गई।

मगध-सम्राट् जरासन्ध ने पूछा—'तुम उदास क्यों हो ? किसके पास बैठने से तुम पर उदासी छा गई ?'

गणिका ने कहा—'अमर के पास बैठने से।'

'अमर कौन ?' सम्राट् ने पूछा।

गणिका ने कहा—'धन सार्थवाह। जिसे धन की ही चिन्ता है। उसे मेरी उपस्थिति का भी बोध नहीं हुआ, तब मरने का बोध कैसे होता होगा ?'

यह सही है कि अर्थलोलुप व्यक्ति मृत्यु को नहीं देखता और जो मृत्यु को देखता है, वह अर्थलोलुप नहीं हो सकता।

सूत्र—१३९

२६. संग्रह-वृत्ति वाला मनुष्य अर्थ प्राप्त न होने पर आकांक्षा से क्रन्दन करता है और उसके नष्ट होने पर शोक से क्रन्दन करता है।

सूत्र—१४५

२७. इस सूत्र के वैकल्पिक अनुवाद इस प्रकार किए जा सकते हैं—

(क) यह (चिकित्सा-हेतु किया हुआ वध) उस अज्ञानी के संग (कर्म-बंध) के लिए पर्याप्त है।

(ख) अज्ञानी के संग से क्या ?

सूत्र १४०—१४७

२८. मुनि-जीवन की दो भूमिकाएं थीं—संघवासी और संघमुक्त। संघवासी

शरीर का प्रतिकर्म—सार-सम्भाल करते थे। गच्छ-मुक्त मुनि शरीर का प्रतिकर्म नहीं करते थे। वे रोग उत्पन्न होने पर उसकी चिकित्सा भी नहीं करवाते थे। यह भूमिका-भेद भगवान् महावीर के उत्तरकाल में हुआ प्रतीत होता है। प्रारम्भ में भगवान् ने मुनि के लिए चिकित्सा का विधान नहीं किया था। उसके सम्भावित कारण दो हैं—अहिंसा और अपरिग्रह।

चिकित्सा में हिंसा के अनेक प्रसंग आते हैं। वैद्य चिकित्सा के लिए हिंसा करता है, उसका सूत्र १४२ में स्पष्ट निर्देश है। औषधि के प्रयोग से होने वाली कृमि आदि की हिंसा को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

शरीर का ममत्व भी परिग्रह है। अपरिग्रही को उसके प्रति भी निर्ममत्व होना चाहिए। जिसने शरीर और उसका ममत्व विसर्जित कर दिया, जो आत्मा में लीन हो गया, वह चिकित्सा की अपेक्षा नहीं रखता। वह शरीर में जो घटित होता है, उसे होने देता है। कर्म का प्रतिफल मान सह लेता है। जीवन और मृत्यु के प्रति समभाव रखने के कारण जीवन का प्रयत्न और मृत्यु से बचाव नहीं करता। इसलिए उसके मन में चिकित्सा का संकल्प नहीं होता।

भगवान् महावीर के उत्तरकाल में इस चिन्तन-धारा में परिवर्तन हुआ। उस समय साधना की दो भूमिकाएं निर्मित हुईं और प्रथम भूमिका की साधना में उस चिकित्सा को मान्यता दी गई, जिसमें वैद्य-कृत हिंसा का प्रसंग न हो।

सूत्र—१५०

२९. हिंसा, असत्य, अस्तेय, अब्रह्मचर्य, परिग्रह और रात्रि-भोजन—ये छह अव्रत हैं। क्या एक अव्रत का आचरण करने वाला दूसरे अव्रत के आचरण से बच सकता है? क्या परिग्रह रखने वाला हिंसा से बच सकता है? क्या हिंसा करने वाला परिग्रह से बच सकता है? इन प्रश्नों के उत्तर में भगवान् महावीर ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया—मूल दोष दो हैं—राग और द्वेष। हिंसा, परिग्रह आदि दोष उनके पर्याय हैं। राग-द्वेष से प्रेरित होकर जो पुरुष परिग्रह का स्पर्श करता है, वह हिंसा आदि का भी स्पर्श करता है। इसी प्रकार अव्रतों का पूर्ण त्याग संयुक्त होता है, वियुक्त नहीं होता। कोई मुनि अहिंसा का पालन करे और अपरिग्रह का पालन न करे या अपरिग्रह का पालन करे, अहिंसा का पालन न करे—ऐसा नहीं हो सकता। महाव्रत एक साथ ही प्राप्त होते हैं और एक साथ ही भंग होते हैं। प्रत्याख्यानावरण कषाय के प्रशान्त होने पर महाव्रत उपलब्ध होते हैं और उसके उदीर्ण होने पर उनका भंग हो जाता है। वे एक, दो या अपूर्ण संख्या में न उपलब्ध होते हैं, और न विनष्ट। इसलिए परिग्रह के प्रकरण में इस सिद्धान्त को इन शब्दों में प्रस्तुत किया जा सकता है—परिग्रह का स्पर्श करने वाला हिंसा आदि सभी अव्रतों का स्पर्श करता है।

इस सूत्र की व्याख्या का दूसरा नय इस प्रकार है—यह सम्भव है कि जो एक (जीव-निकाय) की हिंसा करता है, वह छह (जीव-निकायों) में से किसी भी (जीव-निकाय) की हिंसा कर सकता है (—सब की हिंसा करता है)।

साधक के लिए सब जीवों की हिंसा निषिद्ध है। यह सर्व निषेध अहिंसा के चित्त का निर्माण करता है। एक जीव-निकाय की हिंसा विहित और अन्य जीव-निकायों की हिंसा निषिद्ध हो, तो अहिंसा के चित्त का निर्माण नहीं हो सकता। जो व्यक्ति एक जीव-निकाय की हिंसा करता है, उसके चित्त में अन्य जीव-निकायों के प्रति मैत्री सघन नहीं हो सकती।

भगवान् महावीर के युग में कुछ परिव्राजक यह प्रतिपादित करते थे—हम केवल पानी के जीवों की हिंसा करते हैं, अन्य जीवों की हिंसा नहीं करते। कुछ श्रमण निरूपित करते थे—हम भोजन के लिए जीव-हिंसा करते हैं, अन्य प्रयोजन के लिए जीव-हिंसा नहीं करते।

भगवान् महावीर के शिष्य जंगल के मार्ग में विहार करते, तब बीच में अचित्त पानी नहीं मिलता। अनेक मुनि प्यास से आकुल हो स्वर्गवासी हो जाते। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठा हो कि कदाचित् विकट परिस्थिति आने पर सचित्त पानी पी लिया जाए तो क्या आपत्ति है ?

इन सब निरूपणों और प्रश्नों को सामने रखकर भगवान् ने यह प्रतिपादित किया कि जिस साधक के चित्त में किसी एक जीव-निकाय की हिंसा की भावना अव्यक्त रहती है, उसका सर्वजीव-अहिंसा के पथ में प्रस्थान नहीं होता। अतः साधक की मैत्री सघन होनी चाहिए। उसके चित्त में कभी भी किसी जीव-निकाय की हिंसा की भावना शेष नहीं रहनी चाहिए।

सूत्र—१५५

३०. मनुष्य कर्म करता है। कर्म का अपने-आप में कोई उद्देश्य नहीं है। वह उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाता है। जीवन की कुछ आवश्यकताएं हैं। कर्म के द्वारा उनकी पूर्ति की जाती है। आवश्यकता की पूर्ति के लिए कर्म करना एक बात है और कर्म के लिए आवश्यकता खोजना दूसरी बात है। मन आसक्ति से भरा होता है, तब मनुष्य कर्म की आवश्यकता उत्पन्न करता है। उससे समस्याओं का विस्तार होता है। अनासक्त व्यक्ति के कर्म उपशान्त हो जाते हैं, आवश्यकता-भर बचते हैं। साथ-साथ कर्म से होने वाले कर्म-बन्ध भी उपशान्त हो जाते हैं।

सूत्र—१६०

३१. अरति को सहन न करना—यह संकल्प-शक्ति (will-power) के विकास का सूत्र है। जिसके प्रति मनुष्य का आकर्षण नहीं होता, उसके प्रति प्रयत्नपूर्वक

ध्यान करने से—मानसिक धारा को प्रवाहित करने से संकल्प-शक्ति विकसित होती है। इन्द्रियों का आकर्षण विषयों के प्रति होता है। विषय-विरति के प्रति उनका आकर्षण नहीं होता। इसलिए कभी-कभी साधक के मन में विषय-विरति के प्रति अरति उत्पन्न हो जाती है। उस अरति को सहने वाले साधक का संकल्प शिथिल हो जाता है। जो साधक अरति को सहन नहीं करता, विषय-विरति के प्रति अपने मन की धारा को प्रवाहित करता है, वह अपनी संकल्प-शक्ति का विकास कर संयम को सिद्ध कर लेता है।

भगवान् महावीर की साधना अप्रमाद (जागरूकता) और पराक्रम की साधना है। साधक को सतत अप्रमत्त और पराक्रमी रहना आवश्यक है। साधना-काल में यदि किसी क्षण प्रमाद आ जाता है—अरति, रति का भाव उत्पन्न हो जाता है, तो साधक उसी क्षण ध्यान के द्वारा उसका विरेचन कर देता है। इससे वह संस्कार नहीं बनता, ग्रंथिपात नहीं होता।

अरति-रति का रेचन न किया जाए, तो उससे विषयानुबन्धी चित्त का निर्माण हो जाता है। फिर विषय की आसक्ति छूट नहीं सकती। अतः सूत्रकार ने इस विषय में साधक को बहुत सावधान रहने का निर्देश दिया है।

सूत्र—१६८

३२. सुवसु मुनि संयम-धन से सम्पन्न साधना में सुखद वास करने वाला अथवा मुक्ति-गमन के योग्य होता है। वह साधना-पथ का निरूपण करने में ग्लानि का अनुभव नहीं करता।

सूत्र—१७१

३३. लौकिक भाषा में अप्रिय वेदना को दुःख कहा जाता है। धर्म की भाषा में दुःख का हेतु भी दुःख कहलाता है। दुःख का हेतु कर्म-बंध है। भगवान् ने जनता को यह विवेक दिया—बंध है और बंध का हेतु है। मोक्ष है और मोक्ष का हेतु है।

सूत्र—१७२

३४. भगवान् महावीर की साधना का मौलिक आधार है अप्रमाद—निरन्तर जागरूक रहना। अप्रमाद का पहला सूत्र है—आत्म-दर्शन। भगवान् ने कहा—आत्मा से आत्मा को देखो—संपिक्खए अप्पगमप्पएणं।[1]

स्वरूप-दर्शन का अर्थ आत्म-दर्शन है। जो आत्मा को देखता है, वह आत्मा में रमण करता है; जो आत्मा में रमण करता है, वह आत्मा को देखता है। दर्शन के

१. दशवैकालिक चूलिका, २।११।

बाद रमण और रमण के बाद फिर स्पष्ट दर्शन—यह क्रम चलता रहता है। वासना और कषाय (क्रोध, अभिमान, माया, लोभ) ये आत्मा से अन्य हैं। आत्मा को देखने वाला अन्य में रमण नहीं करता।

आत्मा को जानना ही सम्यग्ज्ञान है। आत्मा को देखना ही सम्यग्दर्शन है। आत्मा में रमण करना ही सम्यग्चारित्र है। यही मुक्ति का मार्ग है।

अप्रमाद का दूसरा सूत्र है वर्तमान में जीना—क्रियमाण क्रिया से अभिन्न होकर जीना। वर्तमान क्रिया में तन्मय होने वाला अन्य क्रिया को नहीं देखता। जो अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पना में खोया रहता है, वह वर्तमान में नहीं रह सकता।

जो व्यक्ति एक क्रिया करता है और उसका मन दूसरी क्रिया में दौड़ता है, तब वह वर्तमान के प्रति जागरूक नहीं रह पाता। जागरूक भाव और तादात्म्य में यही घटित होता है।

सूत्र—१७६

३५. बहुश्रुत धर्मकथी वैराग्यपूर्ण और दार्शनिक दोनों प्रकार की कथा कर सकता है। अल्पश्रुत धर्मकथी को वैराग्यपूर्ण कथा करनी चाहिए। उसे दार्शनिक कथा (इष्ट सिद्धान्त का समर्थन और अनिष्ट सिद्धान्त का निरसन) नहीं करनी चाहिए। वह दार्शनिक कथा का प्रारम्भ कर सकता है, पर उसका निर्वाह नहीं कर सकता। इसलिए उसकी दार्शनिक कथा श्रेयस्कर नहीं होती।

सूत्र—१८२

३६. कुशल का अर्थ है ज्ञानी। धर्म-कथा में दक्ष, विभिन्न दर्शनों के पारगामी, अप्रतिबद्ध विहारी, कथनी और करनी में समान, निद्रा एवं इन्द्रियों पर विजय पाने वाला साधना में आने वाले कष्टों का पारगामी और देश-काल को समझने वाला मुनि 'कुशल' कहलाता है।

तीर्थंकर को भी कुशल कहा जाता है।

तइयं अज्झयणं

सीओसणिज्जं

तृतीय अध्ययन

शीतोष्णीय

पढमो उद्देसो

सुत्त-जागर-पदं

१. सुत्ता अमुणी सया, मुणिणो सया जागरंति।

२. लोयंसि जाण अहियाय दुक्खं।

३. समयं लोगस्स जाणित्ता, एत्थ सत्थोवरए।

४. जस्सिमे सद्दा य रूवा य गंधा य रसा य फासा य अभिसमन्नागया भवंति, से आयवं नाणवं वेयवं धम्मवं बंभवं।

५. पण्णाणेहिं परियाणइ लोयं, मुणीति वच्चे, धम्मविउत्ति अंजू।

६. आवट्टसोए संगमभिजाणति।

७. सीओसिणच्चाई से निग्गंथे अरइ-रइ-सहे फरुसियं णो वेदेति।

प्रथम उद्देशक

सुप्त और जागृत

१. अज्ञानी सदा सोते हैं। ज्ञानी सदा जागते हैं।[१]

२. तुम जानो—इस लोक में अज्ञान‡ अहित के लिए होता है।

३. 'सब आत्माएं समान हैं'—यह जानकर पुरुष समूचे जीव-लोक की हिंसा से उपरत हो जाए।

४. जो पुरुष इन—शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्शों—को भली-भांति जान लेता है—उनमें राग-द्वेष नहीं करता, वह आत्मवान्, ज्ञानवान्, वेदवान्, धर्मवान् और ब्रह्मवान् होता है।[१]

५. जो पुरुष अपनी प्रज्ञा से लोक को जानता है, वह मुनि+ कहलाता है। वह धर्मविद्× और ऋजु होता है।

६. [आत्मवान् मुनि] आसक्ति को चक्राकार स्रोत के रूप में देखता है।

७. निर्ग्रन्थ सर्दी और गर्मी को सहन करता है। वह अरति (संयम में होने वाले विषाद) और रति (असंयम में होने वाले आह्लाद) को सहन करता है—उनसे विचलित नहीं होता। वह कष्ट का वेदन नहीं करता।[१]

‡ 'अज्ञान' 'दुःख' शब्द का अनुवाद है। अज्ञान दुःख का हेतु होता है, इसलिए सूत्रकार ने अज्ञान के स्थान पर 'दुःख' का प्रयोग किया है। चूर्णिकार के अनुसार कर्म दुःख का हेतु होता है, इसलिए उन्होंने 'दुःख' का अर्थ कर्म किया है। 'अज्ञान' ज्ञानावरण कर्म आदि से सम्बन्धित है; इसलिए प्रकारान्तर से इसका अर्थ 'अज्ञान' किया जा सकता है।

+ मुनि का अर्थ ज्ञानी है। यह शब्द प्राकृत की ज्ञानार्थक 'मुण' धातु से निष्पन्न होता है। चूर्णिकार ने मुनि का निरुक्त इस प्रकार किया है—मनुते मन्यते वा जगतः त्रिकालावस्थां मुनिः—जो जगत् की त्रैकालिक अवस्था को जानता है, वह मुनि होता है।

× धर्म का अर्थ है—स्वभाव; द्रव्य के स्वभाव या पर्याय की दृष्टि से जगत् के स्वभाव को जानने वाला धर्मविद् कहलाता है।

८. जागर-वेरोवरए वीरे।

९. एवं दुक्खा पमोक्खसि।

१०. जरामच्चुवसोवणीए णरे, सययं मूढे धम्मं णाभिजाणति।

११. पासिय आउरे पाणे अप्पमत्तो परिव्वए।

१२. मंता एयं मइमं ! पास।

१३. आरंभजं दुक्खमिणं ति णच्चा।

१४. माई पमाई पुणरेइ गब्भं।

१५. उवेहमाणो सद्द-रूवेसु अंजू, माराभिसंकी मरणा पमुच्चति।

१६. अप्पमत्तो कामेहिं, उवरतो पावकम्मेहिं, वीरे आयगुत्ते जे खेयण्णे।

१७. जे पज्जवजाय-सत्थस्स खेयण्णे, से असत्थस्स खेयण्णे,
जे असत्थस्स खेयण्णे, से पज्जवजाय-सत्थस्स खेयण्णे।

८. जागृत और वैर से उपरत (सबका मित्र) व्यक्ति वीर होता है।

९. हे वीर! तू इस प्रकार [ज्ञान, अनासक्ति, सहिष्णुता, जागृति और मैत्री के प्रयोग द्वारा] दुःखों से मुक्ति पा जाएगा।

१०. जन्म और मृत्यु से परतन्त्र तथा मोह से सतत मूढ बना हुआ मनुष्य धर्म को नहीं जानता।

११. [सुप्त] मनुष्यों को आतुर देखकर पुरुष निरन्तर अप्रमत्त रहे।'

१२. मतिमन्! तू मननपूर्वक इसे देख।

१३. दुःख हिंसा से उत्पन्न है—यह जानकर [तू सतत अप्रमत्त रहने का अभ्यास कर]।

१४. मायी और प्रमादी मनुष्य बार-बार जन्म लेता है।

१५. शब्द और रूप की उपेक्षा करने वाला ऋजु (समदर्शी) होता है। जो मृत्यु से आशंकित रहता है, वह मृत्यु से मुक्त हो जाता है।[1]

१६. जो कामनाओं के प्रति अप्रमत्त है, असंयत प्रवृत्तियों से उपरत है, वह पुरुष वीर और अपने-आप में सुरक्षित (आत्मगुप्त) होता है। [जो अपने आप में सुरक्षित होता है], वह अन्तस् को जानने वाला (खेदज्ञ) होता है।

१७. जो [विषयों के] विभिन्न पर्यायों में होने वाली आसक्ति के अंतस् को जानता है, वह अनासक्ति के अंतस् को जानता है।
जो अनासक्ति के अंतस् को जानता है, वह [विषयों के] विभिन्न पर्यायों में होने वाली आसक्ति के अंतस् को जानता है।

---

[1] वैकल्पिक अनुवाद—जो काल से आशंकित रहता है वह मृत्यु से मुक्त हो जाता है।

१८. अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ ।

१९. कम्मुणा उवाही जायइ ।

२०. कम्मं च पडिलेहाए ।

२१. कम्ममूलं च जं छणं ।

२२. पडिलेहिय सव्वं समायाय ।

२३. दोहिं अंतेहिं अदिस्समाणे ।

२४. तं परिण्णाय मेहावी ।

२५. विदित्ता लोगं, वंता लोगसण्णं से मइमं परक्कमेज्जासि ।

—त्ति बेमि

बीओ उद्देसो

परमबोध-पदं

२६. जातिं च वुड्ढि च इहज्ज ! पासे ।

२७. भूतेहिं जाणे पडिलेह सातं ।

१८. कर्ममुक्त (शुद्ध) आत्मा के लिए कोई व्यवहार नहीं होता—नाम और गोत्र का व्यपदेश नहीं होता।

१९. उपाधि कर्म से होती है।

२०. कर्म का निरीक्षण कर [उसे तोड़ने का प्रयत्न करो]।

२१. कर्म का मूल हिंसा है।

२२. पुरुष कर्म का निरीक्षण कर पूर्ण संयम को स्वीकार करे।

२३. पुरुष [राग और द्वेष—इन] दो अंतों से दूर रहे।

२४. मेधावी [राग-द्वेष को] जाने और छोड़े।

२५. मतिमान् पुरुष [विषय] लोक को जानकर, लोकसंज्ञा (विषयाभिलाषा) को त्याग कर [संयम में] पराक्रम करे।

ऐसा मैं कहता हूं।

द्वितीय उद्देशक

परमबोध

२६. हे आर्य! तू जन्म और वृद्धि को देख।

२७. तू जीवों [के कर्म-बंध और कर्म-विपाक] को जान और उनके सुख [-दुःख] को देख।

इस सूत्र का वैकल्पिक अनुवाद इस प्रकार है—हिंसा का मूल कर्म है।

इस सूत्र का वैकल्पिक अनुवाद इस प्रकार है—तू सब प्राणियों को [illegible] और [उन सब को] तुलना कर—[जैसे तुझे] सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, [illegible] सबको सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है।

२८. इसलिए त्रिविद्य (तीन विद्याओं को जानने वाला)† परम‡ को जानकर [समत्वदर्शी हो जाता है]। समत्वदर्शी+ पाप [हिंसा आदि का आचरण] नहीं करता।[१]

२९. मरणधर्मा मनुष्यों के साथ [होने वाले] पाश [प्रेमानुबंध] का विमोचन कर।

३०. आरंभजीवी मनुष्य× को भय का दर्शन (या अनुभव) होता रहता है।

---

† चूर्णिकार ने प्रस्तुत पद की '(इ)तिविज्ज' और 'अतिविज्ज'—इन दो रूप में व्याख्या की है—'विज्जत्ति हे विद्वन्! अहवा अतिविज्जू।'

वृत्तिकार ने 'अतिविज्ज' पाठ की व्याख्या की है। 'तिविज्ज' पाठ के अर्थ की परम्परा का विस्मरण हो जाने के कारण यह संधिच्छेद कर 'अतिविज्ज' पाठ माना गया है। किन्तु यह 'तिविज्ज' पाठ होना चाहिए। बौद्ध साहित्य में यह पाठ और इसकी अर्थ-परम्परा मूल रूप में सुरक्षित है।

‡ परम का अर्थ सत्य या निर्वाण है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र—ये भी परम के साधन होने के कारण परम कहलाते हैं।

+ समत्त (समत्व) का पाठान्तर सम्मत्त (सम्यक्त्व) है। 'आवश्यक निर्युक्ति' में सम्यक्त्व को समत्व का पर्यायवाची ही बतलाया गया है।

'समया संमत्त पसत्थ संति सिव हिअ सुहं अणिदं च।
अदुगुंछिअमगरहिअं अणवज्जमिमेऽवि एगट्ठा॥'

—आवश्यक निर्युक्ति, गा० १०४६
(मलयगिरिवृत्ति सहित, पत्र ५७५)

'सम्मत्तदंसी' पाठ मानकर इस सूत्र का अनुवाद इस प्रकार होता है—'इसलिए त्रिविद्य परम को जानकर [सम्यक्त्वदर्शी हो जाता है]। सम्यक्त्वदर्शी पाप [हिंसा आदि का आचरण] नहीं करता।

'सम्यक्त्वदर्शी पाप नहीं करता' यह बहुत ही रहस्यपूर्ण सूत्र है। जो पाप के पर्याय स्वरूप को देखता है, वह पाप नहीं कर सकता। पाप वही करता है जो उसके यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता, नहीं देखता। 'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।' मैं धर्म को जानता हूं, फिर भी उसका आचरण नहीं करता। मैं अधर्म को जानता हूं। फिर भी उसका वर्जन नहीं करता—यह स्थूलचित्त की अनुभूति है। सूक्ष्मचित्त में होने वाला सम्यक्त्वदर्शन असम्यक् आचरण में नहीं ले जाता।

× छेदन, भेदन और मारण की प्रवृत्ति का नाम आरम्भ है। आरम्भ परिग्रह के लिए किया जाता है। महारम्भ और महापरिग्रह करने वाले चोर आदि के मन में कारावास, बंध, वध और मरण का भय चक्कर काटता रहता है।

२८. इसलिए त्रिविद्य (तीन विद्याओं को जानने वाला)† परम‡ को जानकर [समत्वदर्शी हो जाता है]। समत्वदर्शी+ पाप [हिंसा आदि का आचरण] नहीं करता।

२९. मरणधर्मा मनुष्यों के साथ [होने वाले] पाश [प्रेमानुबंध] का विमोचन कर।

३०. आरंभजीवी मनुष्य× को भय का दर्शन (या अनुभव) होता रहता है।

---

† चूर्णिकार ने प्रस्तुत पद की '(इ)तिविज्ज' और 'अतिविज्ज'—इन दो रूप में व्याख्या की है—'विज्जत्ति हे विद्वन्! अहवा अतिविज्जू।'

वृत्तिकार ने 'अतिविज्ज' पाठ की व्याख्या की है। 'तिविज्ज' पाठ के अर्थ की परम्परा का विस्मरण हो जाने के कारण यह संधिच्छेद कर 'अतिविज्ज' पाठ माना गया है। किन्तु यह 'तिविज्ज' पाठ होना चाहिए। बौद्ध साहित्य में यह पाठ और इसकी अर्थ-परम्परा मूल रूप में सुरक्षित है।

‡ परम का अर्थ सत्य या निर्वाण है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र—ये भी परम के साधन होने के कारण परम कहलाते हैं।

+ समत्त (समत्व) का पाठान्तर सम्मत्त (सम्यक्त्व) है। 'आवश्यक निर्युक्ति' में सम्यक्त्व को समत्व का पर्यायवाची ही बतलाया गया है।

'समया संमत्त पसत्थ संति सिव हिअ सुहं अणिदं च।
अदुगुंछिअमगरहिअं अणवज्जसिमेऽवि एगट्ठा॥'

—आवश्यक निर्युक्ति, गा० १०४६
(मलयगिरिवृत्ति सहित, पत्र ५७५)

'सम्मत्तदंसी' पाठ मानकर इस सूत्र का अनुवाद इस प्रकार होता है—'इसलिए त्रिविद्य परम को जानकर [सम्यक्त्वदर्शी हो जाता है]। सम्यक्त्वदर्शी पाप [हिंसा आदि का आचरण] नहीं करता।

'सम्यक्त्वदर्शी पाप नहीं करता' यह बहुत ही रहस्यपूर्ण सूत्र है। जो पाप के पर्याय स्वरूप को देखता है, वह पाप नहीं कर सकता। पाप वही करता है जो उसके यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता, नहीं देखता। 'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।' मैं धर्म को जानता हूं, फिर भी उसका आचरण नहीं करता। मैं अधर्म को जानता हूं। फिर भी उसका वर्जन नहीं करता—यह स्थूलचित्त की अनुभूति है। सूक्ष्मचित्त में होने वाला सम्यक्त्वदर्शन असम्यक् आचरण में नहीं ले जाता।

× छेदन, भेदन और मारण की प्रवृत्ति का नाम आरम्भ है। आरम्भ परिग्रह के लिए किया जाता है। महारम्भ और महापरिग्रह करने वाले चोर आदि के मन में कारावास, वंध, वध और मरण का भय चक्कर काटता रहता है।

३१. कामेसु गिद्धा णिचयं करेंति, संसिच्चमाणा पुणरेंति गब्भं।

३२. अवि से हासमासज्ज, हंता णंदीति मन्नति।
अलं बालस्स संगेणं, वेरं वड्ढेति अप्पणो।

३३. तम्हा तिविज्जो परमंति णच्चा, आयंकदंसी ण करेति पावं।

३४. अग्गं च मूलं च विगिंच धीरे।

३५. पलिछिंदिया णं णिक्कम्मदंसी।

३६. एस मरणा पमुच्चइ।

३७. से हु दिट्ठपहे मुणी।

३८. लोयंसी परमदंसी विवित्तजीवी उवसंते,
समिते सहिते सया जए कालकंखी परिव्वए।

३९. बहुं च खलु पाव-कम्मं पगडं।

४०. सच्चंसि धितिं कुव्वह।

३१. कामों में आसक्त मनुष्य संचय करते हैं। [संचय की आसक्ति का] सिंचन पाकर वे बार-बार जन्म को प्राप्त होते हैं।[१०]

३२. आसक्त मनुष्य हास्य-विनोद में जीवों का वध कर प्रमोद मनाता है। ऐसे हास्य-प्रसंग से उस अज्ञानी को क्या लाभ? उससे वह [प्राणियों के साथ] अपना वैर बढ़ाता है+।[११]

३३. इसलिए त्रिविद्य परम को जानकर [हिंसा आदि में आतंक देखता है।] जो [हिंसा आदि में] आतंक देखता है, वह पाप (हिंसा आदि का आचरण) नहीं करता।†

३४. हे धीर! तू [दुःख के] अग्र और मूल का विवेक कर।[१२]

३५. पुरुष [संयम और तप के द्वारा राग-द्वेष को] छिन्न कर आत्मदर्शी हो जाता है।[१३]

३६. आत्मदर्शी मृत्यु से मुक्त हो जाता है।

३७. उस आत्मदर्शी मुनि ने ही पथ को देखा है।

३८. जो लोक में परम को देखता है, वह विविक्त जीवन जीता है। वह उपशान्त, सम्यक् प्रवृत्त, [ज्ञान आदि से] सहित और सदा अप्रमत्त होकर जीवन के अन्तिम क्षण तक परिव्रजन करता है।[१४]

३९. [इस जीव ने] अतीत में बहुत पापकर्म किए हैं।

४०. तू सत्य में धृति कर।×

+ इस सूत्र का वैकल्पिक अनुवाद इस प्रकार किया जा सकता है—यह [हास्य-विनोद में किया हुआ वध] उस अज्ञानी के संग [कर्म-बन्ध] के लिए पर्याप्त है। उससे वह अपना वैर बढ़ाता है।

† तुलना—'भिक्षुओ! यह आशा करनी चाहिए कि दोष में भय मानने वाला, दोष में भय देखने वाला सभी दोषों से मुक्त हो जाएगा।' (—अंगुत्तरनिकाय, भा० १, पृ० ५१)

× सत्य को धारण कर, उसमें आनन्द का अनुभव कर. उससे विचलित न हो।

४१. एत्थोवरए मेहावी सव्वं पाव-कम्मं झोसेति।

अणेगचित्त-पदं

४२. अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे, से केयणं अरिहए पूरइत्तए।

४३. से अण्णवहाए अण्णपरियावाए अण्णपरिग्गहाए, जणवयवहाए जणवयपरियावाए जणवयपरिग्गहाए।

संजमाचरण-पदं

४४. आसेवित्ता एतमट्ठं इच्चेवेगे समुट्ठिया, तम्हा तं बिइयं नो सेवए।

४५. णिस्सारं पासिय णाणी, उववायं चवणं णच्चा। अणण्णं चर माहणे !

४६. से ण छणे ण छणावए, छणंतं णाणुजाणइ।

४७. णिव्विद णंदिं अरते पयासु।

४८. अणोमदंसी णिसन्ने पावेहिं कम्मेहिं।

४९. कोहाइमाणं हणिया य वीरे, लोभस्स पासे णिरयं महंतं।
तम्हा हि वीरे विरते वहाओ, छिंदेज्ज सोयं लहुभूय-गामी॥

५०. गंथं परिण्णाय इहज्जेव वीरे, सोयं परिण्णाय चरेज्ज दंते।
उम्मग्ग लद्धुं इह माणवेहिं, णो पाणिणं पाणे समारभेज्जासि॥

—त्ति बेमि।

४१. सत्य में रत रहने वाला मेधावी सर्व पाप कर्म का शोषण कर डालता है।

पुरुष की अनेकचित्तता

४२. यह पुरुष अनेक चित्त वाला है। वह चलनी को भरना चाहता है।[१५]

४३. [तृष्णाकुल मनुष्य] दूसरों के वध, परिताप और परिग्रह तथा जनपद के वध, परिताप और परिग्रह के लिए [प्रवृत्ति करता है]।

संयमाचरण

४४. कुछ व्यक्ति वध आदि का आसेवन कर अंत में संयम-साधना में लग जाते हैं। इसलिए वे फिर उस (काम-भोग एवं हिंसा आदि) का आसेवन नहीं करते।

४५. ज्ञानी ! तू देख ! [विषय] निस्सार है। तू जान ! जन्म और मृत्यु [निश्चित] हैं। अतः हे अहिंसक ! तू अनन्य (संयम या मोक्षमार्ग) का आचरण कर।

४६. वह (अहिंसक) जीवों की हिंसा न करे, न कराए और न उसका अनुमोदन करे।

४७. तू [कामभोग के] आनन्द से उदासीन बन। स्त्रियों में अनुरक्त मत बन।

४८. परम को देखने वाला पुरुष पाप कर्म का आदर नहीं करता।

४९. वीर पुरुष कषाय के आदिभूत क्रोध और मान को नष्ट करे। लोभ को महान् नरक के रूप में देखे। [लोभ नरक है;] इसलिए वायु की भांति अप्रतिबद्ध विहार करने वाला वीर [जीव-] वध से विरत होकर स्रोतों (कामनाओं) को छिन्न कर डाले।

५०. इंद्रियजयी वीर परिग्रह और कामनाओं को तत्काल छोड़कर विचरण करे। इस मनुष्य-जन्म में ही उन्मज्जन (संसार-सिंधु से निस्तार) हो सकता है। उसे प्राप्त कर मुनि प्राणियों के प्राणों का समारम्भ न करे।

—ऐसा मैं कहता हूं।

तइओ उद्देसो

अज्झत्थ-पदं

५१. संधिं लोगस्स जाणित्ता।

५२. आयओ बहिया पास।

५३. तम्हा ण हंता ण विघायए।

५४. जमिणं अण्णमण्णावितिगिच्छाए पडिलेहाए ण करेइ पावं कम्मं,
किं तत्थ मुणी कारणं सिया ?

५५. समयं तत्थुवेहाए, अप्पाणं विप्पसायए।

५६. अणण्णपरमं नाणी, णो पमाए कयाइ वि।
आयगुत्ते सया वीरे, जायामायाए जावए॥

५७. विरागं रूवेहिं गच्छेज्जा, महया खुड्डएहि वा।

५८. आगतिं गतिं परिण्णाय, दोहिं वि अंतेहिं अदिस्समाणे।
से ण छिज्जइ ण भिज्जइ ण डज्झइ, ण हम्मइ कंचणं सव्वलोए॥

५९. अवरेण पुव्वं ण सरंति एगे, किमस्सतीतं ? किं वागमिस्सं ?
भासंति एगे इह माणवा उ, जमस्सतीतं आगमिस्सं॥

तृतीय उद्देशक

अध्यात्म

५१. मुनि आत्मा के स्वरूप को जानकर [प्रमाद न करे]।[१६]

५२. तू बाह्य-जगत् को अपनी आत्मा के समान देख।

५३. [सब जीवों को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है;] इसलिए मुनि जीवों का स्वयं हनन न करे और दूसरों से न करवाए।

५४. जो परस्पर एक-दूसरे की आशंका से या दूसरे के देखते हुए पाप-कर्म नहीं करता, क्या उस [पाप-कर्म नहीं करने] का कारण ज्ञानी होना है ?[१७]

५५. पुरुष जीवन में समता का आचरण कर आत्मा को प्रसन्न करे।[१८]

५६. ज्ञानी पुरुष सर्वोच्च परम सत्य (आत्मोपलब्धि) के प्रति क्षणभर भी प्रमाद न करे।
वह सदा इन्द्रियजयी और पराक्रमशील रहे। परिमित भोजन से जीवन-यात्रा चलाए।

५७. पुरुष क्षुद्र या महान् सभी प्रकार के रूपों (पदार्थों) के प्रति वैराग्य धारण करे।

५८. आगति और गति (संसार-भ्रमण) को जानकर जो [राग और द्वेष—इन] दोनों अंतों से दूर रहता है, वह लोक के किसी भी कोने में छेदा नहीं जाता, भेदा नहीं जाता, जलाया नहीं जाता और मारा नहीं जाता।[१९]

५९. कुछ पुरुष भविष्य और अतीत की चिन्ता नहीं करते—इसका अतीत क्या था ? इसका भविष्य क्या होगा ? कुछ मनुष्य कहते हैं—जो इसका अतीत था, वही इसका भविष्य होगा।[२०]

६०. णातीतमट्ठं ण य आगमिस्सं, अट्ठं नियच्छंति तहागया उ।
विधूत-कप्पे एयाणुपस्सी, णिज्झोसइत्ता खवगे महेसी॥

६१. का अरई ? के आणंदे ? एत्थंपि अग्गहे चरे।
सव्वं हासं परिच्चज्ज, आलीण-गुत्तो परिव्वए॥

६२. पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि ?

६३. जं जाणेज्जा उच्चालइयं, तं जाणेज्जा दूरालइयं।
जं जाणेज्जा दूरालइयं, तं जाणेज्जा उच्चालइयं॥

६४. पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ, एवं दुक्खा पमोक्खसि।

६५. पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि।

६६. सच्चस्स आणाए उवट्ठिए से मेहावी मारं तरति।

६७. सहिए धम्ममादाय, सेयं समणुपस्सति।

६८. दुहओ जीवियस्स, परिवंदण-माणण-पूयणाए, जंसि एगे पमादेंति।

६०. तथागत अतीत और भविष्य के अर्थ को नहीं देखते। धुताचार× वाला महर्षि वर्तमान का अनुपश्यी हो (कर्म-शरीर) का शोषण कर उसे क्षीण कर डालता है।[२०]

६१. साधक के लिए क्या अरति और क्या आनन्द ? वह अरति और आनन्द के विकल्प को ग्रहण न करे।
हास्य आदि सब प्रमादों को त्याग, इन्द्रिय-विजय और मन-वचन-काया का संवरण कर परिव्रजन करे।

६२. पुरुष ! तू ही मेरा मित्र है। फिर बाहर मित्र क्यों खोजता+ है ?

६३. जिसे तुम परम तत्त्व के प्रति लगा हुआ जानते हो, उसे [कामनाओं से] दूर लगा हुआ जानो। जिसे तुम [कामनाओं से] दूर लगा हुआ जानते हो, उसे तुम परम तत्त्व के प्रति लगा हुआ जानो।†

६४. पुरुष ! आत्मा का ही निग्रह कर। इस प्रकार तू दुःख से मुक्त हो जाएगा।[२१]

६५. पुरुष ! तू सत्य का ही अनुशीलन कर।

६६. जो सत्य की आज्ञा में उपस्थित है, वह मेधावी मृत्यु [अथवा कामनाओं] को तर जाता है।

६७. सत्य का साधक धर्म को स्वीकार कर श्रेय का साक्षात् कर लेता है।

६८. राग और द्वेष के अधीन होकर मनुष्य वर्तमान जीवन के लिए तथा वंदना, सम्मान और पूजा के लिए [चेष्टा करता है]। कुछ साधक भी उनके लिए प्रमाद करते हैं।‡

× देखें, अध्ययन ६, सूत्र २४।

+ वैकल्पिक अनुवाद—तू ही तेरा मित्र है, फिर बाहरी मित्र को क्यों चाहता है ?

† वैकल्पिक अनुवाद—जिसे तुम परम तत्त्व के प्रति लगा हुआ जानते हो, उसे दूर [लक्ष्य में] संलग्न जानो। जिसे तुम दूर [लक्ष्य में] संलग्न जानते हो, उसे तुम परम तत्त्व के प्रति लगा हुआ जानो।

‡ वैकल्पिक अनुवाद—मनुष्य इहलौकिक और पारलौकिक जीवन की वंदना, सम्मान और पूजा के लिए [चेष्टा करता है]। कुछ साधक भी उसके लिए प्रमाद करते हैं।

६९. सहिए दुक्खमत्ताए पुट्ठो णो झंझाए।

७०. पासिमं दविए लोयालोय-पवंचाओ मुच्चइ।

—त्ति बेमि।

चउत्थो उद्देसो

कसायविरइ-पदं

७१. से वंता कोहं च, माणं च, मायं च, लोभं च।

७२. एयं पासगस्स दंसणं उवरयसत्थस्स पलियंतकरस्स।

७३. आयाणं [णिसिद्धा ?] सगडब्भि।

७४. जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ,
जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ।

७५. सव्वतो पमत्तस्स भयं, सव्वतो अप्पमत्तस्स नत्थि भयं।

७६. जे एगं नामे, से बहुं नामे,
जे बहुं नामे, से एगं नामे।

७७. दुक्खं लोयस्स जाणित्ता।

६९. सत्य का साधक दु:ख-मात्रा से स्पृष्ट होने पर व्याकुल न हो।

७०. [सत्य को] देखने वाला वीतराग व्यक्ति लोक के दृष्ट प्रपंच से मुक्त हो जाता है।

—ऐसा मैं कहता हूं।

चतुर्थ उद्देशक

कषाय-विरति

७१. साधक क्रोध, मान, माया और लोभ का वमन करने वाला होता है।

७२. यह अहिंसक और निरावरण द्रष्टा का दर्शन है।

७३. जो पुरुष [कर्म के] उपादान [राग-द्वेष] को रोकता है, वही अपने किए हुए [कर्म] का भेदन कर पाता है।

७४. जो एक को जानता है, वह सबको जानता है।
जो सबको जानता है, वह एक को जानता है।[२२]

७५. प्रमत्त को सब ओर से भय होता है। अप्रमत्त को कहीं से भी भय नहीं होता।

७६. जो एक को झुकाता है, वह बहुतों को झुकाता है।
जो बहुतों को झुकाता है, वह एक को झुकाता है×।[२१]

७७. पुरुष लोक के दु:ख को जानकर [उसके हेतुभूत कषाय का परित्याग करे]।[२३]

× पाठान्तर का अनुवाद इस प्रकार है—
जो एक स्वभाव वाला है, वह अनेक स्वभाव वाला है।
जो अनेक स्वभाव वाला है, वह एक स्वभाव वाला है।

७८. वंता लोगस्स संजोगं, जंति वीरा महाजाणं।
परेण परं जंति, नावकंखंति जीवियं॥

७९. एगं विगिंचमाणे पुढो विगिंचइ,
पुढो विगिंचमाणे एगं विगिंचइ।

८०. सड्ढी आणाए मेहावी।

८१. लोगं च आणाए अभिसमेच्चा अकुतोभयं।

८२. अत्थि सत्थं परेण परं, णत्थि असत्थं परेण परं।

८३. जे कोहदंसी से माणदंसी जे, माणदंसी से मायदंसी।
जे मायदंसी से लोभदंसी जे, लोभदंसी से पेज्जदंसी।
जे पेज्जदंसी से दोसदंसी जे, दोसदंसी से मोहदंसी।
जे मोहदंसी से गब्भदंसी जे, गब्भदंसी से जम्मदंसी।
जे जम्मदंसी से मारदंसी जे, मारदंसी से निरयदंसी।
जे निरयदंसी से तिरियदंसी जे, तिरियदंसी से दुक्खदंसी।

८४. से मेहावी अभिनिवट्टेज्जा कोहं च, माणं च, मायं च, लोहं च, पेज्जं च, दोसं च, मोहं च, गब्भं च, जम्मं च, मारं च, नरगं च, तिरियं च, दुक्खं च।

७८. वीर साधक लोक के संयोग को त्याग कर महायान [मोक्ष या मोक्ष मार्ग] को प्राप्त होते हैं। वे आगे से आगे बढ़ते जाते हैं। वे [असंयत] जीवन जीना नहीं चाहते।

७९. एक का विवेक करने वाला अनेक का विवेक करता है। अनेक का विवेक करने वाला एक का विवेक करता है।[२३]

८०. आज्ञा में श्रद्धा करने वाला मेधावी होता है।

८१. पुरुष आज्ञा से [कषाय लोक को] जानकर अकुतोभय हो जाता है। —उसे किसी भी दिशा से भय नहीं होता।

८२. शस्त्र उत्तरोत्तर तीक्ष्ण होता है। अशस्त्र उत्तरोत्तर तीक्ष्ण नहीं होता—वह एकरूप होता है।[२४]

८३. जो क्रोधदर्शी है, वह मानदर्शी है।
जो मानदर्शी है, वह मायादर्शी है।
जो मायादर्शी है, वह लोभदर्शी है।
जो लोभदर्शी है, वह प्रेयदर्शी है।
जो प्रेयदर्शी है, वह द्वेषदर्शी है।
जो द्वेषदर्शी है, वह मोहदर्शी है।
जो मोहदर्शी है, वह गर्भदर्शी है।
जो गर्भदर्शी है, वह जन्मदर्शी है।
जो जन्मदर्शी है, वह मृत्युदर्शी है।
जो मृत्युदर्शी है, वह नरकदर्शी है।
जो नरकदर्शी है, वह तिर्यंचदर्शी है।
जो तिर्यंचदर्शी है, वह दुःखदर्शी है।

८४. मेधावी क्रोध, मान माया, लोभ, प्रेय, द्वेष, मोह, गर्भ, जन्म, मृत्यु, नरक, तिर्यच और दुःख को छिन्न करे।

८५. एयं पासगस्स दंसणं उवरयसत्थस्स पलियंतकरस्स ।

८६. आयाणं णिसिद्धा सगडब्भि ।

८७. किमत्थि उवाही पासगस्स ण विज्जइ ?
णत्थि । — त्ति बेमि ।

८५. यह अहिंसक और निरावरण द्रष्टा का दर्शन है।

८६. जो पुरुष [कर्म के] उपादान (राग-द्वेष) को रोकता है, वही अपने किए हुए [कर्म] का भेदन कर पाता है।

८७. क्या सत्यद्रष्टा के कोई उपाधि होती है या नहीं होती ?
नहीं होती।

—ऐसा मैं कहता हूं।

टिप्पण

सूत्र—१

१. मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं : सुप्त, सुप्त-जागृत और जागृत। ये अवस्थाएं शरीर की भांति चतन्य में भी घटित होती हैं। उनका आधार चैतन्य-विकास का तारतम्य है :

चैतन्य-विकास		
संयम का शून्य बिन्दु	संयम का मध्य बिन्दु	संयम का चरम बिन्दु
सुप्ति	सुप्ति-जागृति	जागृति

अध्यात्म की भाषा में असंयमी अज्ञानी और संयमी ज्ञानी कहलाता है।

सूत्र—४

२. चूर्णि के अनुसार इस सूत्र का अनुवाद इस प्रकार होता है— जो पुरुष इन—शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्शों—को भली-भांति जान लेता है—उनमें राग-द्वेष नहीं करता, वह आत्मवित्, ज्ञानवित्, वेदवित्, धर्मवित् और ब्रह्मवित् होता है।

शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श की आसक्ति आत्मा की उपलब्धि में बाधक बनती है। इनमें आसक्त मनुष्य अनात्मवान् और अनासक्त आत्मवान् कहलाता है। जिसे आत्मा उपलब्ध होता है, उसे ज्ञान, शास्त्र, धर्म और आचार—सब कुछ उपलब्ध हो जाता है। जो आत्मा को जान लेता है, वह ज्ञान, शास्त्र, धर्म और आचार—सब कुछ जान लेता है।

सूत्र—७

३. कष्ट हर व्यक्ति के जीवन में आता है। अहिंसा और अपरिग्रह का जीवन जीने वाले निर्ग्रन्थ के जीवन में प्राकृतिक कष्ट अधिक आते हैं।

अज्ञानी मनुष्य कष्ट का वेदन करता है। ज्ञानी मनुष्य कष्ट को जानता

है, उसका वेदन नहीं करता। वह तितिक्षा को विकसित कर लेता है, इसलिए वह अपने ज्ञान को कष्ट के साथ नहीं जोड़ता।

सूत्र—११

४. स्वप्न और जागरण सापेक्ष हैं। मनुष्य बाहर में जागता है, तब भीतर में सोता है। वह भीतर में जागता है, तब बाहर में सोता है। बाहर में जागने वाला चैतन्य को विस्मृत कर देता है, इसलिए वह प्रमत्त हो जाता है। प्रमाद का अर्थ है—विस्मृति। भीतर में जागने वाले को चैतन्य की स्मृति रहती है, इसलिए वह अप्रमत्त रहता है। अप्रमाद का अर्थ है—स्मृति। स्मृति जागरूकता है और विस्मृति स्वप्न है।

सूत्र—१८-१९

५. शरीर, आकृति, वर्ण, नाम, गोत्र, सुख-दुःख का अनुभव, विविध योनियों में जन्म—ये सब आत्मा को विभक्त करते हैं। इस विभाजन का हेतु कर्म है। कर्मबद्ध आत्मा नाना प्रकार के व्यवहारों (विभाजनों) और उपाधियों से युक्त होती है। कर्ममुक्त आत्मा के न कोई व्यवहार होता और न कोई उपाधि।

सूत्र—२३

६. रागी राग से दृश्यमान होता है, द्वेषी द्वेष से दृश्यमान होता है, किन्तु वीतराग राग और द्वेष दोनों से दृश्यमान नहीं होता।

सूत्र—२६

७. जन्म को देखना जन्म की शृंखला को देखना है। जो मन की गहराइयों में उतर कर जन्म को देखता है, वह देखते-देखते जाति-स्मृति को प्राप्त हो जाता है, अतीत के अनेक जन्मों को देख लेता है। जैसे दस-बीस वर्ष पूर्व की घटना हमारी स्मृति में उतर आती है, वैसे ही पूर्व-जन्म भी हमारी स्मृति में होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता। उसका कारण संमूढ़ता है। जन्म और मरण के समय होने वाले दुःख से संमूढ़ बने हुए व्यक्ति को पूर्व-जन्म की स्मृति नहीं हो सकती—

> **जातमाणस्स जं दुक्खं, मरमाणस्स जंतुणो।**
> **तेण दुक्खेण संमूढो, जातिं ण सरति अप्पणो॥**

जन्म को देखने से, उस पर ध्यान केन्द्रित करने से संमूढ़ता दूर हो जाती है और पूर्व-जन्म की स्मृति हो आती है।

सूत्र—२७

८. चूर्णिकार के शब्दों में इस सूत्र का प्रतिपाद्य यह है कि तू किसी का अप्रिय मत कर।

सूत्र—२८

९. पूर्वजन्म की स्मृति, प्राणी-जगत् को जानने और उनके सुख-दुःख का पर्यालोचन करने की विद्या को जानने वाला त्रिविद्य होता है।

बौद्ध परम्परा के अनुसार तिविज्ज का अर्थ इस प्रकार है—'तीन विद्याएं—(१) पूर्व जन्मों को जानने का ज्ञान, (२) मृत्यु तथा जन्म को जानने का ज्ञान (३) तथा चित्त-मलों के क्षय का ज्ञान।'

कर्म के दो बीज हैं—राग और द्वेष। ये ही दोनों विषमता के बीज हैं। राग से रक्त और द्वेष से द्विष्ट मनुष्य न अपने भावों को देखता है और न सब जीवों की आंतरिक समता को देखता है। जो समता को नहीं देखता, वह किसी के प्रति रक्त होकर पाप करता है, तो किसी के प्रति द्विष्ट होकर पाप करता है। समत्वदर्शी न किसी के प्रति रक्त होता और न किसी के प्रति द्विष्ट होता; इसलिए वह पाप नहीं करता।

सूत्र—३१

१०. पुरुपार्थ-चतुष्टयी में काम साध्य है और अर्थ साधन। प्रस्तुत सूत्र में यही तथ्य प्रतिपादित हुआ है कि काम की आसक्ति ही मनुष्य को अर्थ-संग्रह के लिए प्रेरित करती है।

सूत्र—३२

११. कुछ व्यक्ति जीवों को मारकर प्रमोद मनाते हैं। कुछ असत्य बोल कर प्रमोद मनाते हैं। इसी प्रकार कुछ व्यक्ति चोरी, अब्रह्मचर्य और संग्रह कर प्रमोद मनाते हैं। ये सभी अपना वैर बढ़ाते हैं।

सूत्र—३४

१२. कुछ दार्शनिक परिणामवादी (अग्रवादी) होते हैं। वे समस्या के मूल को नहीं पकड़ते। उभरी हुई समस्या को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। भगवान् महावीर मूलवादी थे। वे परिणाम की अपेक्षा समस्या के मूल पर अधिक ध्यान देते थे। भगवान् के अनुसार दुःख की समस्या का मूल बीज मोह है। शेष सब उसके पत्र-पुष्प हैं।

सूत्र—३५

१३. आत्मा है, फिर भी वह दृष्ट नहीं है। उसके दर्शन में वाधक तत्त्व दो हैं—राग और द्वेष। ये आत्मा पर कर्म का सघन आवरण डालते रहते हैं; इसलिए उसका दर्शन नहीं होता। राग-द्वेष के छिन्न हो जाने पर आत्मा निष्कर्म हो जाता है। निष्कर्म होते ही वह दृष्ट हो जाता है। निष्कर्मदर्शी के चार अर्थ किये जा सकते हैं—(१) आत्मदर्शी, (२) मोक्षदर्शी, (३) सर्वदर्शी, (४) अक्रियादर्शी।

महावीर की साधना का मूल आधार है—अक्रिया। सत् वही होता है, जिसमें क्रिया होती है। आत्मा की स्वाभाविक क्रिया है—चैतन्य का व्यापार। उससे भिन्न क्रिया होती है, वह स्वाभाविक नहीं होती। अस्वाभाविक क्रिया का निरोध ही आत्मा की स्वाभाविक क्रिया के परिवर्तन का रहस्य है। स्वाभाविक क्रिया के क्षण में राग-द्वेष की क्रिया अवरुद्ध हो जाती है। देखें, ४।५०।

सूत्र—३८

१४. भगवान् महावीर ने दीक्षा की अवधि जीवनपर्यंत वतलाई। जो व्यक्ति सही अर्थ में संयम-दीक्षा की साधना कर लेता है, उसका फिर असंयम-जीवन में लौटना संभव नहीं होता; इसलिए यह अवधि आरोपित नहीं, किन्तु स्वाभाविक है।

सूत्र—४२

१५. सूत्रकार ने तृष्णा की तुलना चलनी से की है। तृष्णा चलनी की भांति दुर्भर है। चूर्णिकार ने एक श्लोक उद्धृत किया है—

न शयानो जयेन्निद्रां, न भुंजानो जयेत् क्षुधाम्।
न काममानः कामानां, लाभेनेह प्रशाम्यति॥

शयन से नींद पर, भोजन से भूख पर और लाभ से कामना पर विजय नहीं पाई जाती।

सूत्र—५१

१६. चैतन्य आत्मा का स्वरूप है। उसका अनुभव अप्रमाद है। चैतन्य की विस्मृति हुए विना प्रमाद नहीं हो सकता।। कारागृह की दीवार में हुए छिद्र को जानकर वंदी के लिए प्रमाद करना जैसे श्रेय नहीं होता, वैसे ही मोह के कारागृह की दीवार के छिद्र को जानकर साधक के लिए प्रमाद करना श्रेय नहीं है।

सूत्र—५४

१७. पाप-कर्म नहीं करने की प्रेरणा अध्यात्मज्ञान है। अध्यात्मज्ञानी जैसे दूसरों

के प्रत्यक्ष में पाप नहीं करता, वैसे ही परोक्ष में भी पाप नहीं करता।

जो व्यावहारिक बुद्धि वाला होता है, वह दूसरों के प्रत्यक्ष में पाप नहीं करता, किन्तु परोक्ष में पाप करता है।

शिष्य ने पूछा—गुरुदेव ! जो व्यक्ति दूसरों के भय, आशंका या लज्जा से प्रेरित हो पाप नहीं करता, क्या यह आध्यात्मिक त्याग है ?

गुरु ने कहा—यह आध्यात्मिक त्याग नहीं है। जिसके अंत:करण में पाप-कर्म छोड़ने की प्रेरणा नहीं है, वह निश्चय नय में ज्ञानी नहीं है। जो दूसरों के भय से पाप-कर्म नहीं करता, वह व्यवहार नय में ज्ञानी है।

सूत्र—५५

१८. दूसरों के प्रत्यक्ष में पाप-कर्म न करना वैसे ही परोक्ष में न करना समता है। जो साधक प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों में एक जैसा आचरण करता है, उसी का चित्त प्रसन्न (निर्मल) रह सकता है। छिप-छिप कर पाप करने वाले का चित्त प्रसन्न नहीं रहता। वह मलिन हो जाता है।

सूत्र—५८

यस्य हस्तौ च पादौ च, जिह्वाग्रं च सुसंयतम्।
इन्द्रियाणि च गुप्तानि, राजा तस्य करोति किम् ?

जिसका हाथ, पैर और जिह्वाग्र संयत होता है और इन्द्रियां विजित होती हैं उसका राजा क्या बिगाड़ेगा ?

किया जाता है कि भविष्य भी भोग से तृप्त नहीं होगा।

अतीत के भोगों की स्मृति और भविष्य के भोगों की अभिलाषा से राग, द्वेष और मोह उत्पन्न होते हैं। इसलिए तथागत (वीतरागता की साधना करने वाले) अतीत और भविष्य के अर्थ को नहीं देखते—राग-द्वेपात्मक चित्त-पर्याय का निर्माण नहीं करते।

जिसका आचार राग, द्वेप और मोह को शान्त या क्षीण करने वाला होता है वह विधूत-कल्प कहलाता है। वह तथागत विधूत-कल्प 'एयाणुपस्सी' होता है।—

१. एतदनुपश्यी—वर्तमान में घटित होने वाले यथार्थ को देखने वाला।
२. एकानुपश्यी— अपनी आत्मा को अकेला देखने वाला।
३. एजानुपश्यी—धुताचार के द्वारा होने वाले प्रकम्पनों या परिवर्तनों को देखने वाला।

वह राग और द्वेप से मुक्त रहकर कर्म-शरीर को क्षीण करता है।

सूत्र—६४

२१. आत्मा शब्द का प्रयोग चैतन्य-पिण्ड, मन और शरीर के अर्थ में होता है। अभिनिग्रह का अर्थ है—समीप जाकर पकड़ना। जो व्यक्ति मन के समीप जाकर उसे पकड़ लेता है, उसे जान लेता है, वह सव दुःखों से मुक्त हो जाता है। निकटता से जान लेना ही वास्तव में पकड़ना है। नियन्त्रण करने से प्रतिक्रिया पैदा होती है। उससे निग्रह नहीं होता। धर्म के क्षेत्र में यथार्थ को जान लेना ही निग्रह है।

सूत्र—७४

२२. द्रव्य के त्रैकालिक पर्यायों को जानने वाले व्यक्ति का ज्ञान इतना विकसित होता है कि उसमें सव द्रव्यों को जानने की क्षमता होती है। जिसमें सव द्रव्यों को जानने की क्षमता होती है, वही वास्तव में एक द्रव्य को जान सकता है।

द्रव्य के पर्याय दो प्रकार के होते हैं—स्वपर्याय और परपर्याय। स्वपर्याय और परपर्याय—इन दोनों को जाने विना एक द्रव्य को भी पूर्णतः नहीं जाना जा सकता। स्वपर्याय और परपर्याय—इन दोनों पर्यायों से एक द्रव्य को जानने का अर्थ सव द्रव्यों को जानना है।

इसका आध्यात्मिक तात्पर्य इस भापा में व्यक्त किया जा सकता है—
जो आत्मा को जानता है, वह सवको जानता है,
जो सवको जानता है, वही आत्मा को जानता है।

सूत्र—७६, ७९

२३. इन दोनों सूत्रों की व्याख्या अनेक नयों से की जा सकती है।

सूत्र—८२

२४. द्वेष, घृणा, क्रोध—ये शस्त्र हैं। मैत्री, क्षमा—ये अशस्त्र हैं। शस्त्र में विषम होती है। विषमता अर्थात् अपकर्ष और उत्कर्ष। अतः कोई मनुष्य 'अ' के प्रति म द्वेष करता है। 'ब' के प्रति तीव्र द्वेष करता है। 'क' के प्रति तीव्रतर द्वेष कर है। 'ख' के प्रति तीव्रतम द्वेष करता है। इस प्रकार शस्त्र मंद, तीव्र, तीव्रतर अं तीव्रतम होता है। अशस्त्र में समता होती है। समभाव एकरूप होता है। वह ' के प्रति मंद और 'ब' के प्रति तीव्र नहीं हो सकता।

हिंसा शस्त्र से ही नहीं होती। वह स्वयं शस्त्र है। हिंसा का अर्थ है—असंय जिसकी इन्द्रियां और मन असंयत होते हैं, वह प्राणीमात्र के लिए शस्त्र होता है

अहिंसा अशस्त्र है। प्राणिमात्र के प्रति संयम होना अहिंसा है। जिस इन्द्रियां और मन संयत होते हैं, वह प्राणीमात्र के लिए अशस्त्र होता है।

पढमो उद्देसो

सम्मावाए अहिंसा-पदं

१. से बेमि—जे अईया, जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमेस्सा अरहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेंति, एवं परूवेंति—सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा।

२. एस धम्मे सुद्धे णिइए सासए समिच्च लोयं खेयण्णेहिं पवेइए।

३. तं जहा—उट्ठिएसु वा, अणुट्ठिएसु वा।
उवट्ठिएसु वा, अणुवट्ठिएसु वा।
उवरयदंडेसु वा, अणुवरयदंडेसु वा।
सोवहिएसु वा, अणोवहिएसु वा।
संजोगरएसु वा, असंजोगरएसु वा।

४. तच्चं चेयं तहा चेयं, अस्सिं चेयं पवुच्चइ।

५. तं आइइत्तु ण णिहे ण णिक्खिवे, जाणित्तु धम्मं जहा तहा।

६. दिट्ठेहिं णिव्वेयं गच्छेज्जा।

प्रथम उद्देशक

सम्यग्वाद : अहिंसा-सूत्र

१. मैं कहता हूं—
जो अर्हत् भगवान् अतीत में हुए हैं, वर्तमान में हैं और भविष्य में होंगे—वे सब ऐसा आख्यान करते हैं, ऐसा भाषण करते हैं, ऐसा प्रज्ञापन करते हैं और ऐसा प्ररूपण करते हैं—
किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व का हनन नहीं करना चाहिए; उन पर शासन नहीं करना चाहिए; उन्हें दास नहीं बनाना चाहिए; उन्हें परिताप नहीं देना चाहिए; उनका प्राण-वियोजन नहीं करना चाहिए।

२. यह [अहिंसा-]धर्म शुद्ध, नित्य और शाश्वत है। आत्मज्ञ अर्हतों ने [जीव-] लोक को जानकर इसका प्रतिपादन किया।

३. [अर्हतों ने अहिंसा-धर्म का उन सबके लिए प्रतिपादन किया है—]
जो उसकी आराधना के लिए उठे हैं या नहीं उठे हैं;
जो उपस्थित हैं या उपस्थित नहीं हैं;
जो दण्ड से उपरत हैं या अनुपरत हैं;
जो परिग्रही हैं या परिग्रही नहीं हैं;
जो संयोग में रत हैं या संयोग में रत नहीं हैं।

४. यह (अहिंसा-धर्म) तत्त्व है। यह तथ्य है। यह इस (अर्हत्-प्रवचन) में सम्यग् निरूपित है।

५. पुरुष उस [अहिंसा-महाव्रत] को स्वीकार कर उसमें छलना न करे और न उसे छोड़े। धर्म का जैसा स्वरूप है, वैसा जानकर [आजीवन उसका पालन करे]।

६. वह विषयों के प्रति विरक्त रहे।

७. **णो लोगस्सेसणं चरे।**

८. **जस्स णत्थि इमा णाई, अण्णा तस्स कओ सिया ?**

९. दिट्ठं सुयं मयं विण्णायं, जमेयं परिकहिज्जइ ।

१०. **समेमाणा पलेमाणा,** पुणो-पुणो जातिं पकप्पेंति ।

११. **अहो य राओ य जयमाणे, वीरे सया आगयपण्णाणे।**
पमत्ते बहिया पास, अप्पमत्ते सया परक्कमेज्जासि ।

—त्ति बेमि ।

बीओ उद्देसो

सम्मानाणे अहिंसापरिक्खा-पदं

१२. जे आसवा ते परिस्सवा,
जे परिस्सवा ते आसवा,
जे अणासवा ते अपरिस्सवा,
जे अपरिस्सवा ते अणासवा—
एए पए संबुज्झमाणे, लोयं च आणाए अभिसमेच्चा पुढो पवेइयं।

१३. **आघाइ णाणी इह माणवाणं** संसारपडिवन्नाणं संबुज्झमाणाणं विण्णाणपत्ताणं।

७. वह लोकैषणा न करे।[1]

८. जिसे इस [अहिंसा-धर्म] का ज्ञान नहीं है, उसे अन्य (तत्त्वों) का ज्ञान कहां से होगा ?

९. यह [अहिंसा-धर्म] जो कहा जा रहा है, वह दृष्ट, श्रुत, मत और विज्ञात है।[2]

१०. हिंसा में जाने वाले और लीन रहने वाले मनुष्य बार-बार जन्म लेते हैं।

११. दिन-रात यत्न करने वाले ! सदा लब्धप्रज्ञ साधक ! तू देख—
जो प्रमत्त हैं, [वे धर्म से] बाहर हैं। इसलिए तू अप्रमत्त होकर सदा पराक्रम कर।
—ऐसा मैं कहता हूं।

द्वितीय उद्देशक

सम्यग्-ज्ञान : अहिंसा-सिद्धान्त की परीक्षा

१२. जो आस्रव हैं—कर्म का बंध करते हैं,
वे ही परिस्रव हैं—कर्म का मोक्ष करते हैं।
जो परिस्रव हैं—कर्म का मोक्ष करते हैं,
वे ही आस्रव हैं—कर्म का बंध करते हैं।
जो अनास्रव हैं—कर्म का बंध नहीं करते,
वे ही अपरिस्रव हैं—कर्म का मोक्ष नहीं करते।
जो अपरिस्रव हैं—कर्म का मोक्ष नहीं करते,
वे ही अनास्रव हैं—कर्म का बंध नहीं करते—
इन पदों (भंगों) को समझने वाला विस्तार से प्रतिपादित [जीव] लोक को आज्ञा से जानकर [आस्रव न करे]।[1]

१३. जो संसार-स्थित (परोक्षदर्शी) हैं, उन्नति करने को उन्मुख हैं, मेधावी हैं, उन मनुष्यों को ज्ञानी धर्म का बोध देते हैं।

१४. अट्टा वि संता अदुवा पमत्ता।

१५. अहासच्चमिणं ति बेमि।

१६. नाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि, इच्छापणीया वंकाणिकेया।
कालग्गहीआ णिचए णिविट्ठा, पुढो-पुढो जाइं पकप्पयंति।

१७. इहमेगेसिं तत्थ-तत्थ संथवो भवति।
अहोववाइए फासे पडिसंवेदयंति।

१८. चिट्ठं कूरेहिं कम्मेहिं, चिट्ठं परिचिट्ठति।
अचिट्ठं कूरेहिं कम्मेहिं, णो चिट्ठं परिचिट्ठति।

१९. एगे वयंति अदुवा वि णाणी?
णाणी वयंति अदुवा वि एगे?

१४. आर्त्त (अभावग्रस्त) मनुष्य भी [धर्म को स्वीकार नहीं करते] और प्रमत्त (विलासी) मनुष्य भी।×

१५. यह वास्तविक सत्य है—ऐसा मैं कहता हूं।

१६. मौत का मुंह नाना मार्गों से दिख जाता है; फिर भी कुछ लोग इच्छा द्वारा संचालित और माया के निकेतन बने रहते हैं। वे काल की पकड़ में होने पर भी [भविष्य में धर्म करने की वात सोचकर] अर्थ-संग्रह में जुटे रहते हैं। इस प्रकार के लोग नाना प्रकार की योनियों में जन्म धारण करते हैं।

१७. कुछ लोगों का विभिन्न मतों से परिचय होता है। [वे उनके परिचय से [illegible] का सेवन कर] अधोलोक में होने वाले स्पर्शों का संवेदन करते हैं।

१८. [जिस पुरुष के अध्यवसाय] प्रगाढ़ क्रूर-कर्म में प्रवृत्त होते हैं, वह प्रगाढ़ वेदना वाले स्थान में उत्पन्न होता है। [जिसके अध्यवसाय] प्रगाढ़ क्रूर-कर्म में प्रवृत्त नहीं होते, वह प्रगाढ़ वेदना वाले स्थान में उत्पन्न नहीं होता।

१९. क्या यह वात अन्य दार्शनिक कहते हैं या ज्ञानी भी कहते हैं?
यह ज्ञानी कहते हैं या अन्य दार्शनिक भी कहते हैं?

× इस सूत्र का वैकल्पिक अनुवाद इस प्रकार किया जा सकता है—
जो धर्म को स्वीकार नहीं करते, वे आर्त होते हैं या प्रमत्त।

+ अठारहवें सूत्र में हिंसा का फल प्रतिपादित है। यह [illegible] प्रस्तुत सूत्र में की गई है। 'अथवा' शब्द के [illegible] उक्त मत केवलज्ञानी पुरुष का ही है अथवा दूसरों का भी।

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन [illegible]— इस जिज्ञासा के दो विकल्प किए गए हैं।

प्रथम जिज्ञासा है—

इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में क्या [illegible] का अनुसरण करते हैं?

दूसरी जिज्ञासा है—

क्या दूसरे दार्शनिक [illegible] अनुसरण करते हैं?

इसका उत्तर [illegible] हैं।

२०. आवंती केआवंती लोयंसि समणा य माहणा य पुढो विवादं वदंति—से दिट्ठं च णे, सुयं च णे, मयं च णे, विण्णायं च णे, **उड्ढं अहं तिरियं दिसासु** सव्वतो सुपडिलेहियं च णे—"सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता हंतव्वा, अज्जावेयव्वा परिघेतव्वा, परियावेयव्वा, उद्दवेयव्वा।
एत्थ वि जाणह णत्थित्थ दोसो।"

२१. अणारियवयणमेयं।

२२. तत्थ जे ते आरिया, ते एवं वयासी—से दुद्दिट्ठं च भे, दुस्सुयं च भे, दुम्मयं च भे, दुव्विण्णायं च भे, **उड्ढं अहं तिरियं दिसासु** सव्वतो दुप्पडिलेहियं च भे, जण्णं तुब्भे एवमाइक्खह, एवं भासह, एवं परूवेह, एवं पण्णवेह—"सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता हंतव्वा, अज्जावेयव्वा, परिघेतव्वा, परियावेयव्वा, उद्दवेयव्वा।
एत्थ वि जाणह णत्थित्थ दोसो।"

२३. वयं पुण एवमाइक्खामो, एवं भासामो, एवं परूवेमो, एवं पण्णवेमो—"सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परियावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा
एत्थ वि जाणह णत्थित्थ दोसो।"

२४. आरियवयणमेयं।

२५. पुव्वं निकाय समयं पत्तेयं पुच्छिस्सामो—हंभो पावादुया! किं भे सायं दुक्खं उदाहु असायं?

२० [दार्शनिक-] जगत् में कुछ श्रमण और ब्राह्मण परस्पर-विरोधी मतवाद का निरूपण करते हैं।
कुछ कहते हैं—"हमने देखा है, सुना है, मनन किया है और भली-भांति समझा है, ऊंची, नीची और तिरछी सब दिशाओं में सब प्रकार से इसका निरीक्षण किया है कि किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व का हनन किया जा सकता है, उन पर शासन किया जा सकता है, उन्हें दास बनाया जा सकता है, परिताप दिया जा सकता है, उनका प्राण-वियोजन किया जा सकता है। तुम जानो कि हिंसा में कोई दोष नहीं है।"

२१. यह [हिंसा का प्रतिपादन] अनार्य-वचन है।

२२. जो आर्य हैं, उन्होंने ऐसा कहा है—"हिंसावादियो! आपने दोष-पूर्ण देखा है, दोष-पूर्ण सुना है, दोष-पूर्ण मनन किया है, दोष-पूर्ण समझा है, ऊंची, नीची और तिरछी सब दिशाओं में दोष-पूर्ण निरीक्षण किया है, जो आप ऐसा आख्यान करते हैं, भाषण करते हैं, प्ररूपण करते हैं एवं प्रज्ञापन करते हैं कि किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व का हनन किया जा सकता है, उन पर शासन किया जा सकता है, उन्हें दास बनाया जा सकता है, परिताप दिया जा सकता है, उनका प्राण-वियोजन किया जा सकता है। तुम जानो कि हिंसा में कोई दोष नहीं है।

२३. "हम इस प्रकार आख्यान करते हैं, भाषण करते हैं, प्ररूपण करते हैं एवं प्रज्ञापन करते हैं कि किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व का हनन नहीं करना चाहिए, उन पर शासन नहीं करना चाहिए, उन्हें दास नहीं बनाना चाहिए, परिताप नहीं देना चाहिए, उनका प्राण-वियोजन नहीं करना चाहिए। तुम जानो कि अहिंसा (सर्वथा) निर्दोष है।"

२४. यह [अहिंसा का प्रतिपादन] आर्य-वचन है।

२५. सर्वप्रथम [दार्शनिकों को] अपने-अपने सिद्धान्तों में स्थापित कर हम पूछेंगे—
हे दार्शनिको! क्या आपको दुःख प्रिय है या अप्रिय?

२६. समिया पडिवन्ने यावि एवं बूया—सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं असायं अपरिणिव्वाणं महब्भयं दुक्खं। —त्ति बेमि।

तइओ उद्देसो

सम्मातव-पदं

२७. उवेह एणं बहिया य लोयं, से सव्वलोगंसि जे केइ विण्णू।
अणुवीइ पास णिक्खित्तदंडा, जे केइ सत्ता पलियं चयंति॥

२८. नरा मुयच्चा धम्मविदु त्ति अंजू।

२९. आरंभजं दुक्खमिणंति णच्चा, एवमाहु समत्तदंसिणो।

३०. ते सव्वे पावाइया दुक्खस्स कुसला परिण्णमुदाहरंति।

३१. इति कम्म परिण्णाय सव्वसो।

३२. इह आणाकंखी पंडिए अणिहे एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरं, कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं।

२६. [यदि आप कहें, 'हमें दुःख प्रिय है,' तो यह उत्तर प्रत्यक्ष-विरुद्ध होगा और यदि आप कहें, 'हमें दुःख प्रिय नहीं है', तो] आपका सिद्धान्त सम्यग् है। हम आप से कहना चाहते हैं कि जैसे आप को दुःख प्रिय नहीं है, वैसे ही सब प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों के लिए दुःख अप्रिय, अशान्तिजनक और महा-भयंकर है।

—ऐसा मैं कहता हूं।

तृतीय उद्देशक

सम्यग्-तप

२७. [अहिंसा से] विमुख इस [दर्शन-] जगत् की तू उपेक्षा कर। जो ऐसा करता है, वह समूचे [दर्शन-] जगत् में विज्ञ होता है। तू अनुचिन्तन कर देख—हिंसा को छोड़ने वाले मनुष्य ही कर्म को क्षीण करते हैं।

२८. देह के प्रति अनासक्त+ मनुष्य ही धर्म को जान पाते हैं और धर्म को जानने वाले ही ऋजु होते हैं।

२९. दुःख हिंसा से उत्पन्न है—यह जानकर [मनुष्य हिंसा का परित्याग करे]। समत्वदर्शी प्रवचनकारों ने ऐसा कहा है।

३०. वे सब कुशल प्रवचनकार दुःख की परिज्ञा (विवेक) का प्रतिपादन करते हैं।

३१. इसलिए [मुमुक्षु] पुरुष कर्म को सब प्रकार से जानकर उसका परित्याग करे।

३२. आज्ञाप्रिय× पण्डित एक आत्मा की ही संप्रेक्षा करता हुआ अनासक्त हो जाए। वह कर्म-शरीर‡ को प्रकम्पित करे और [कषाय-] आत्मा को कृश करे, जीर्ण करे।

+ मृतार्चा—अर्चा शब्द के दो अर्थ हैं—देह और क्रोध। जिसका शरीर साज-सज्जा के प्रति मृत जैसा होता है या जिसकी कषाय मृत होती है, वे मृतार्च कहलाते हैं।

× आज्ञा शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—ज्ञान और उपदेश।

‡ यहां 'शरीर' शब्द कर्म-शरीर का सूचक है। प्रस्तुत सूत्र के 'धुणे कम्मसरीरगं' (५।५८) इस पद से इसकी पुष्टि होती है। यहां 'अप्पाणं' पद का प्रयोग कषाय-आत्मा के अर्थ में हुआ है।

३३. जहा जुण्णाइं कट्ठाइं, हव्ववाहो पमत्थति, एवं अत्तसमाहिए अणिहे।

कसाय-विवेग-पदं

३४. विगिंच कोहं अविकंपमाणे, इमं णिरुद्धाउयं संपेहाए।

३५. दुक्खं च जाण अदुवागमेस्सं।

३६. पुढो फासाइं च फासे।

३७. लोयं च पास विप्फंदमाणं।

३८. जे णिव्वुडा पावेहिं कम्मेहिं, अणिदाणा ते वियाहिया।

३९. तम्हा तिविज्जो णो पडिसंजलिज्जासि।

—त्ति बेमि।

चउत्थो उद्देसो

सम्माचरित्त-पदं

४०. आवीलए पवीलए निप्पीलए जहित्ता पुव्वसंजोगं, हिच्चा उवसमं।

३३. जैसे अग्नि जीर्ण काष्ठ को शीघ्र जला देती है, वैसे ही समाहित आत्मा वाला तथा अनासक्त पुरुष कर्म-शरीर को प्रकम्पित, कृश और जीर्ण कर देता है।[५]

३४. यह आयु सीमित है—यह संप्रेक्षा करता हुआ अकम्पित रह कर क्रोध का विवेक कर।[६]

३५. वर्तमान अथवा भविष्य में होने वाले दुःखों को जान।[७]

३६. क्रोधी मनुष्य नाना प्रकार के दुःखों और रोगों को भोगता है।

३७. तू देख! यह लोक चारों ओर प्रकम्पित हो रहा है।

३८. जो पुरुष पाप-कर्मों (हिंसा, विषय और कषाय के प्रकम्पन) को शान्त कर देते हैं, वे अनिदान (बन्धन के हेतु से मुक्त) कहलाते हैं।

३९. इसलिए हे त्रिविद्य पुरुष! तू [विषय और कषाय की अग्नि से] अपने-आप को प्रज्वलित मत कर।

—ऐसा मैं कहता हूं।

चतुर्थ उद्देशक

सम्यग्-चारित्र

४०. मुनि पहले [वस्तु और प्राणी से होने वाले] सम्बन्ध को त्याग, इन्द्रिय और मन को शांत कर [शरीर का] आपीडन, फिर प्रपीडन और फिर निष्पीडन करे।[८]

४१. तम्हा अविमणे वीरे सारए समिए सहिते सया जए।

४२. दुरणुचरो मग्गो वीराणं अणियट्टगामीणं।

४३. विगिंच मंस-सोणियं।

४४. एस पुरिसे दविए वीरे, आयाणिज्जे वियाहिए।
जे धुणाइ समुस्सयं, वसित्ता बंभचेरंसि॥

४५. णेत्तेहिं पलिछिन्नेहिं, आयाणसोय-गढिए बाले।
अव्वोच्छिन्नबंधणे, अणभिक्कंतसंजोए,
तमंसि अविजाणओ आणाए लंभो णत्थि त्ति बेमि।

४६. जस्स नत्थि पुरा पच्छा, मज्झे तस्स कओ सिया?

४१. [जिसके इन्द्रिय और मन शांत होते हैं, उसके कर्म-क्षय शीघ्र होता है] इसलिए प्रसन्नमना,+ वीर, विशारद,× सम्यक् प्रवृत्त और [ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र] सहित मुनि सदा [इन्द्रिय और मन का] संयम करे।

४२. जीवन-पर्यन्त संयम-यात्रा में चलने वाले वीर मुनियों का मार्ग दुरनुचर होता है—उस पर चलना कठिन होता है।[९]

४३. मांस और रक्त का विवेक कर।[१०]

४४. वह [मांस और रक्त का विवेक करने वाला] पुरुष राग-द्वेष-मुक्त, पराक्रमी और अनुकरणीय होता है। वह ब्रह्मचर्य‡ (संयम) में रहकर शरीर और कर्म-शरीर को कृश कर देता है।

४५. इन्द्रिय-जय की साधना करते हुए भी जो [मोह से आक्रान्त होकर] इन्द्रिय विषयों में आसक्त हो जाता है और जो [राग-द्वेष में अभिभूत होकर] पारिवारिक बन्धन एवं आर्थिक अनुबन्ध को तोड़ नहीं पाता, वह [आसक्ति के] अन्धकार में प्रविष्ट होकर [विषय-लोलुपता के दोषों से] अनभिज्ञ हो जाता है। ऐसा साधक आज्ञा का लाभ नहीं उठा पाता। ऐसा मैं कहता हूं।[११]

४६. जिसका आदि-अन्त नहीं है, उसका मध्य कहां से होगा?[१२]

+ जिसका मन अरति, भय और शोक से मुक्त होता है, वह अविमना अर्थात् प्रसन्नमना कहलाता है।

× 'सारए' शब्द के संस्कृत रूप—स्वारत, संरत, सारक और शारद हो सकते हैं। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने 'स्वारत' शब्द की व्याख्या की है। जो तप, धर्म, वैराग्य, अप्रमाद, ज्ञान, दर्शन और चारित्र तथा समिति और गुप्ति में अत्यधिक रत होता है, वह 'स्वारत' कहलाता है।

डा० हर्मन जेकोबी ने इसका अनुवाद सारक (a person of pith—सारवान्) किया है।

सूत्रकृतांग में तीन स्थलों पर 'विशारद' शब्द का प्रयोग मिलता है (१।३।५०, १।१३।१३, १।१४।१७)। उसके आधार पर यहां 'सारए' का 'शारद' रूप संगत लगता है। जो अर्थ-ग्रहण में पटु होता है, वह 'विशारद' कहलाता है।

‡ ब्रह्मचर्य के तीन अर्थ होते हैं (द्रष्टव्य, टिप्पण ५।३५)—

१. आचार,

२. मैथुन-विरति और

३. गुरुकुल।

यहां यह आचार के अर्थ में प्रयुक्त है। मैथुन-विरति आचार का ही एक अंग है।

४७. से हु पण्णाणमंते बुद्धे आरंभोवरए।

४८. सम्ममेयंति पासह।

४९. जेण बंधं वहं घोरं, परितावं च दारुणं।

५०. पलिछिंदिय बाहिरगं च सोयं, णिक्कम्मदंसी इह मच्चिएहिं।

५१. कम्मुणा सफलं दट्ठुं, तओ णिज्जाइ वेयवी।

५२. जे खलु भो! वीरा समिता सहिता सदा जया संघडदंसिणो आतोवरया, अहा-तहा लोगमुवेहमाणा, पाईणं पडीणं दाहिणं उदीणं इति सच्चंसि परिचिट्ठिंसु, साहिस्सामो णाणं वीराणं समिताणं सहिताणं सदा जयाणं संघडदंसिणं आतोवरयाणं अहा-तहा लोगमुवेहमाणाणं।

५३. किमत्थि उवाधी पासगस्स ण विज्जति?
णत्थि।

—त्ति बेमि।

४७. [जिसके भोगेच्छा का संस्कार क्षीण हो जाता है,] वही वास्तव में प्रज्ञानवान, वुद्ध और हिंसा से उपरत होता है।

४८. [भोगेच्छा की निवृत्ति होने पर ही हिंसा की निवृत्ति होती है,] यह सत्य है, इसे तुम देखो।

४६. [भोगेच्छा से प्रेरित] पुरुष वन्ध, घोर वध और दारुण परिताप का प्रयोग करता है।

५०. इन्द्रियों की वहिर्मुखी प्रवृत्ति को रोककर इस मरण-धर्मा जगत् में तुम अमृत (निष्कर्म) को देखो।"

५१. कर्म अपना फल देते हैं, यह देखकर ज्ञानी मनुष्य उनके संचय से निवृत्त हो जाता है।

५२. हे आर्यो! जो मुनि वीर, सम्यक्-प्रवृत्त, [ज्ञान, दर्शन और चारित्र] सहित; सतत इन्द्रिय-जयी, प्रतिपल जागरूक, स्वतः उपरत, जो लोक जैसा है, उसे वैसा ही देखने वाले, पूर्व पश्चिम, दक्षिण और उत्तर—सभी दिशाओं में सत्य में स्थित हुए हैं; उन पूर्व-विशेषण से विशेषित मुनियों के सम्यग् ज्ञान का हम निरूपण करेंगे।

५३. क्या सत्य-द्रष्टा के कोई उपाधि होती है या नहीं होती?

नहीं होती।

—ऐसा मैं कहता हूं

टिप्पण

सूत्र—७

१. पुत्र, धन और जीवन—ये तीन मुख्य एषणाएं (इच्छाएं) हैं। साधक को इन तीनों एषणाओं तथा अन्य सभी लौकिक एषणाओं से दूर रहना चाहिए।

सूत्र—९

२. भगवान् महावीर ने प्रत्येक आत्मा में स्वतन्त्र चैतन्य की क्षमता प्रतिपादित की। इस सिद्धान्त के आधार पर उन्होंने कहा—तुम स्वयं सत्य की खोज करो।

उन्होंने नहीं कहा कि 'मैं कहता हूं, इसलिए अहिंसा-धर्म को स्वीकार करो।' उन्होंने कहा—"अहिंसा-धर्म के बारे में मैं जो कह रहा हूं, वह प्रत्यक्षज्ञानी के द्वारा दृष्ट है, आचार्यों से श्रुत है, मनन द्वारा मत और चिन्तन द्वारा विज्ञात है।"

किसी प्रत्यक्षज्ञानी का दर्शन (दृष्ट सत्य) भी श्रवण, मनन और विज्ञान के द्वारा ही स्वीकृत होता है। इसमें श्रद्धा का आरोपण नहीं, यह ज्ञान के विकास का उपक्रम है।

सूत्र—१२

३. आस्रव, परिस्रव, अनास्रव और अपरिस्रव की चतुर्भंगी (चार विकल्प) होती है। मूल सूत्र में प्रथम और चतुर्थ भंग का निर्देश है। शेष दो भंग (द्वितीय और तृतीय) इस प्रकार हैं—

ख. जो आस्रव हैं—जो कर्म का बंध करते हैं,
वे अपरिस्रव हैं—वे कर्म का मोक्ष नहीं करते।
जो अपरिस्रव हैं—जो कर्म का मोक्ष नहीं करते,
वे आस्रव हैं—वे कर्म का बंध करते हैं।

ग. जो अनास्रव हैं—जो कर्म का बंध नहीं करते,
वे परिस्रव हैं—वे कर्म का मोक्ष करते हैं।
जो परिस्रव हैं—जो कर्म का मोक्ष करते हैं।
वे अनास्रव हैं—वे कर्म का बंध नहीं करते।

प्रथम भंग सामान्य है। साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति कर्म का बंध करता है

और कर्म का मोक्ष (क्षय या निर्जरा) करता है।

द्वितीय भंग शून्य है। आस्रव हो और निर्जरा न हो, ऐसा हो नहीं सकता।

तृतीय भंग शैलेशी अवस्था की अपेक्षा से प्रतिपादित है। शैलेशी (सर्वथा निष्प्रकम्प) मुनि आस्रवक (कर्म का आकर्षक) नहीं होता। उसके केवल परिस्रव होता है—संचित कर्म का क्षय होता है।

चतुर्थ भंग मुक्त आत्मा की अपेक्षा से प्रतिपादित है। वह आस्रव और परिस्रव दोनों ही नहीं होता। वह कर्म के बंध और मोक्ष दोनों से अतीत होता है।

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या अनेक नयों से की जा सकती है—

हेतु की दृष्टि से—

असंबुद्ध व्यक्ति के लिए विषय-सामग्री आस्रव की हेतु है।

संबुद्ध व्यक्ति के लिए वही परिस्रव की हेतु बन जाती है।

अर्हत् या मुनि संबुद्ध व्यक्ति के लिए परिस्रव के हेतु होते हैं।

असंबुद्ध के लिए वे आस्रव के हेतु हो जाते हैं।

अतः यह नियम बनता है कि जितने आस्रव के हेतु हैं, उतने ही परिस्रव के हेतु हैं और जितने परिस्रव के हेतु हैं, उतने ही आस्रव के हेतु हैं।

यथाप्रकारा यावन्तः, संसारावेशहेतवः।
तावन्तस्तद्विपर्यासाद्, निर्वाणसुखहेतवः॥

जैसे और जितने संसार-आवेश के हेतु हैं, वैसे और उतने ही निर्वाण-सुख के हेतु हैं।

क्रिया की दृष्टि से—

असंयमी का गमन आस्रव होता है।

संयमी का गमन परिस्रव होता है।

प्रस्तुत सूत्र में वस्तु की अनैकान्तिकता का निरूपण है। हम एकांगी दृष्टि से किसी वस्तु, घटना या भावधारा की सही व्याख्या नहीं कर सकते। आचार्य अमितगति ने योगसार में लिखा है—

अज्ञानी बध्यते यत्र, सेव्यमानेऽक्षगोचरे।
तत्रैव मुच्यते ज्ञानी, पश्यताश्चर्यमीदृशम्॥

(—योगसार, ६।१८)

—इन्द्रिय-विषय का सेवन करने पर जहां अज्ञानी कर्म-बंध को प्राप्त होता है, वहां ज्ञानी कर्म-बंधन से छूटता है—कर्म की निर्जरा करता है। इस आश्चर्य को देखो।

आकर्षण और बंध की दृष्टि से

जो कर्म को आकर्षित करते हैं, वे उनका बन्ध करते हैं।

जो कर्म का वन्ध करते हैं, वे उसे आकर्षित करते हैं।
जो कर्म को आकर्षित नहीं करते, वे उसका वन्ध नहीं करते।
जो कर्म का वन्ध नहीं करते, वे उसे आकर्षित नहीं करते।

सूत्र—३२

४. चूर्णिकार ने 'एगमप्पाणं संपेहाए' इस पद की एकत्व और अन्यत्व भावनापरक व्याख्या की है। उनके अनुसार आत्मा अकेला कर्म करता है, अकेला ही उसका फल भोगता है; अकेला उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है और अकेला ही जन्मान्तर में जाता है—

एकः प्रकुरुते कर्म, भुङ्क्ते एकश्च तत्फलम्।
जायत्येको म्रियत्येको, एको याति भवान्तरम्॥

शरीर भिन्न और आत्मा भिन्न है—यह अन्यत्व भावना है। वृत्तिकार के अनुसार—मैं सदा अकेला हूं, मैं किसी दूसरे का नहीं हूं। मैं अपने-आप को जिसका बता सकूं, उसे नहीं देखता और जिसे मैं अपना कह सकूं, उसे भी नहीं देखता—

सदैकोऽहं न मे कश्चित्, नाहमन्यस्य कस्यचित्।
न तं पश्यामि यस्याहं, नासौ भावीति यो मम॥

इस संसार में अनर्थ ही सार वस्तु है। कौन, किसका, कहां अपना है और कौन, किसका, कहां पराया है? ये स्वजन और परजन सारे भ्रमण कर रहे हैं। ये किसी समय स्वजन और परजन हो जाते हैं। एक समय ऐसा आता है, जब न कोई स्वजन रहता है और न कोई परजन—

संसार एवायमनर्थसारः कः कस्य कोऽत्र स्वजनः परो वा।
सर्वे भ्रमन्तः स्वजनाः परे च, भवन्ति भूत्वा न भवन्ति भूयः॥

आप यह चिन्तन करें—मैं अकेला हूं, पहले भी मेरा कोई नहीं है और पीछे भी मेरा कोई नहीं है। अपने कर्मों के द्वारा मुझे दूसरों को अपना मानने की भ्रान्ति हो रही है। सचाई यह है कि पहले भी मै अकेला ही हूं और पीछे भी मैं अकेला ही हूं—

विचिन्त्यमेतद् भवताऽहमेको, न मेऽस्ति कश्चित् पुरतो न पश्चात्
स्वकर्मभिर्भ्रान्तिरियं ममैव, अहं पुरस्तादहमेव पश्चात्॥

सूत्र—३३

५. इस उपमा-पद में कर्म-शरीर को प्रकम्पित करने के दो साधन निर्दिष्ट हैं—समाधि (आत्मा—शुद्ध चैतन्य—में एकाग्रता) और अनासक्ति। इन साधनों के निर्देश से भी यह स्पष्ट होता है कि इस प्रकरण में शरीर से तात्पर्य 'कर्म-शरीर' है।

इस औदारिक (स्थूल) शरीर की कृशता यहां विवक्षित नहीं है। एक साधु ने उपवास के द्वारा शरीर को कृश कर लिया। उसका अहं कृश नहीं हुआ था। वह स्थान-स्थान पर अपनी तपस्या का प्रदर्शन करता और प्रशंसा चाहता था। एक अनुभवी साधु ने उसकी भावना को समझते हुए कहा—'हे साधु! तुम इन्द्रियों, कषायों और गौरव (अहंभाव) को कृश करो। इस शरीर को कृश कर लिया, तो क्या हुआ? हम तुम्हारे इस कृश शरीर की प्रशंसा नहीं करेंगे।'—

इंदियाणि कसाए य, गारवे य किसे कुरु।
णो वयं ते पसंसामो किसं साहु सरीरगं॥

—निशीथ भाष्य, गा० ३७५८।

भगवान् महावीर ने कर्म-शरीर को कृश करने की बात कही है। स्थूल शरीर कृश हो या न हो, यह गौण बात है।

सूत्र—३४

६. प्रस्तुत सूत्र में 'कामात् क्रोधोऽभिजायते' (गीता, २।६२) यह तथ्य प्रतिपादित है। इष्ट विषयों का वियोग और अनिष्ट विषयों का संयोग क्रोध की उत्पत्ति का मुख्य हेतु है।

सूत्र—३५

७. क्रोध से मानसिक दुःख उत्पन्न होता है और क्रोध से क्रोध के संस्कार निर्मित तथा पुष्ट होते हैं। वे भविष्य में भी दुःख का सृजन करते हैं। यह ज्ञान भी क्रोध-विवेक का एक आलम्बन है।

सूत्र—४०

८. मुनि-जीवन की साधना के लिए दो प्रारम्भिक अनुबंध हैं—

१. सम्बन्ध का त्याग।

२. इन्द्रिय और मन की उपशांति।

इस स्थिति के प्राप्त होने पर वह साधना की तीन भूमिकाओं से गुजरता है। प्रथम भूमिका प्रव्रजित होने से लेकर अध्ययन-काल तक की है। उसमें वह ध्यान का अल्प अभ्यास और श्रुत-अध्ययन के लिए आवश्यक तप करता है।

दूसरी भूमिका शिष्यों के अध्यापन और धर्म के प्रचार-प्रसार की है। इसमें वह ध्यान की प्रकृष्ट साधना और कुछ लम्बे उपवास करता है।

तीसरी भूमिका शरीर-त्याग की है। जब मुनि आत्म-हित के साथ-साथ संघ-हित कर चुकता है, तब वह समाधि-मरण के लिए शरीर-त्याग की तैयारी में लग जाता है। उस समय वह दीर्घ-कालीन ध्यान और दीर्घ-कालीन तप (शारीर,

मासिक आदि) की साधना करता है।

ध्यान व तप की साधना के औचित्य और क्षमता के अनुपात में ही स्थूल शरीर के आपीडन, प्रपीडन और निष्पीडन का निर्देश दिया गया है। कर्म-शरीर का आपीडन, प्रपीडन और निष्पीडन इसी के अनुरूप होगा। शरीर से चेतना के भेदकरण की भी ये तीन भूमिकाएं हैं।

सूत्र—४२

९. भगवान् महावीर ने जीवन-कालीन संयम का विधान किया था। रुचिकर विषयों को छोड़कर जीवन-पर्यन्त उनकी आकांक्षा न करना बहुत कठिन मार्ग है, इस पर चलना सरल नहीं है; अतः इसको दुरनुचर कहा है।

सूत्र—४३

१०. मांस और रक्त का उपचय मैथुन संज्ञा उत्पन्न होने का एक कारण है। इसलिए मुनि को उनका उपचय नहीं करना चाहिए। प्रश्न होता है कि मांस और रक्त शरीर के आधारभूत तत्त्व हैं और शरीर धर्म का आधार है। फिर उनका अपचय क्यों करना चाहिए ? उनके अपचय का अर्थ अत्यन्त अल्पता नहीं है, किन्तु उपचय को कम करना है और उतना कम करना है कि जितना मांस और रक्त मोह की उत्पत्ति का हेतु न बने।

सार-रहित आहार करने से रक्त का उपचय नहीं होता। उसके बिना क्रमशः मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य का उपचय नहीं होता। इस प्रकार सहज ही आपीडन की साधना हो जाती है।

सूत्र—४५

११. आज्ञा के दो अर्थ हो सकते हैं—श्रुत-ज्ञान और उपदेश। ज्ञान या उपदेश का सार है—आचार। आचार का सार है कर्म-निर्जरा और मोक्ष। विषय-लोलुप साधक बहुश्रुत होता हुआ भी सम्यग् आचरण, कर्म-निर्जरा नहीं कर पाता—मोक्ष की दिशा में गतिशील नहीं हो पाता।

सूत्र—४६

१२. भोगेच्छा के संस्कार का उन्मूलन नहीं होता, तब तक वह साधना-काल में भी समय-समय पर उभर आता है। अतएव कभी-कभी जितेन्द्रिय साधक भी अजितेन्द्रिय बन जाता है। किन्तु, साधना के द्वारा जब भोगेच्छा का संस्कार उन्मूलित हो जाता है, क्षीण हो जाता है, तब भोगेच्छा की त्रैकालिक निवृत्ति हो जाती है। फिर वह न पहले होती, न पीछे होती और न मध्य में होती—कभी भी

नहीं होती। अतीत का संस्कार नहीं होता, तो भविष्य की कल्पना नहीं होती तथा संस्कार और कल्पना के बिना वर्तमान का चिन्तन नहीं होता।

सूत्र—५०

१३. जिसकी इन्द्रियों का प्रवाह नश्वर विषयों की ओर होता है, वह अमृत को प्राप्त नहीं हो सकता। उसकी प्राप्ति के लिए इन्द्रिय-प्रवाह को मोड़ना आवश्यक होता है। जिसकी सारी इन्द्रियां अमृत के दर्शन में लग जाती हैं, वह स्वयं अमृतमय बन जाता है। निष्कर्म के पांच अर्थ किये जा सकते हैं—शाश्वत, अमृत, मोक्ष, संवर और आत्मा। कर्म को देखने वाला कर्म को प्राप्त होता है और निष्कर्म को देखने वाला निष्कर्म को प्राप्त होता है। निष्कर्म-दर्शन योग-साधना का बहुत बड़ा सूत्र है।

निष्कर्म का दर्शन चित्त की सारी वृत्तियों को एकाग्र कर करना चाहिए। उस समय केवल आत्मा या आत्मोपलब्धि के साधन को ही देखना चाहिए। अन्य किसी वस्तु पर मन नहीं जाना चाहिए।

पंचमं अज्झयणं

लोगसारो

पंचम अध्ययन

लोकसार

पढमो उद्देसो

काम-पदं

१. आवंती केआवंती लोयंसि विप्परामुसंति, अट्ठाए अणट्ठाए वा, एएसु चेव विप्परामुसंति।

२. गुरू से कामा।

३. तओ से मारस्स अंतो, जओ से मारस्स अंतो, तओ से दूरे।

४. णेव से अंतो, णेव से दूरे।

**५. से पासति फुसियमिव, कुसग्गे पणुन्नं णिवतितं वातेरितं।
एवं बालस्स जीवियं, मंदस्स अविजाणओ।**

६. कूराणि कम्माणि बाले पकुव्वमाणे, तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासुवेइ।

७. मोहेण गब्भं मरणाति एति।

प्रथम उद्देशक

काम

१. इस जगत् में जो मनुष्य प्रयोजनवश या निष्प्रयोजन जीव-वध करते हैं, वे इन [छह जीव-निकायों] में से किसी भी जीव का वध कर देते हैं।[1]

२. उनकी कामनाएं विशाल होती हैं।[2]

३. कामना के कारण वह मृत्यु की सीमा में होता है। क्योंकि वह मृत्यु की सीमा में होता है, इसलिए वह [अमृत (निर्वाण)] से दूर होता है।[3]

४. निष्काम पुरुष न मृत्यु की सीमा में होता है और न उससे दूर होता है—मृत्यु से अतीत होता है।[4]

५. वह (ज्ञानी मनुष्य) जीवन को, कुश की नोक पर टिके हुए अस्थिर एवं वायु से प्रकम्पित होकर गिरे हुए जलकण की भांति देखता है। बाल, मन्द और अज्ञानी का जीवन भी ऐसा ही अनित्य होता है, [किन्तु मोह के कारण वह उस अनित्यता को देख नहीं पाता]।

६. अज्ञानी मनुष्य [कामना-पूर्ति के लिए] क्रूर कर्म करता हुआ [दुःख का सृजन करता है]। वह उस दुःख से मूढ़ होकर विपर्यास को प्राप्त होता है—सुख का अर्थी होकर दुःख को प्राप्त होता है।

७. वह मोह के कारण [बार-बार] जन्म-मरण को प्राप्त होता है

---

१. वैकल्पिक अनुवाद—[जो विषय-कामनाओं को छोड़ देता है, किन्तु कामना को [illegible] छोड़ता] वह [अमरत्व [illegible] के सामने से] निकट नहीं होता और [बाह्य रूप से [illegible] से] दूर नहीं होता।

८. एत्थ मोहे पुणो-पुणो।

९. संसयं परिजाणतो, संसारे परिण्णाते भवति,
संसयं अपरिजाणतो, संसारे अपरिण्णाते भवति।

१०. जे छेए से सागारियं ण सेवए।

११. कट्टु एवं अविजाणओ, बितिया मंदस्स बालया।

१२. लद्धा हुरत्था पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणयाए त्ति बेमि।

१३. पासह एगे रूवेसु गिद्धे परिणिज्जमाणे।

१४. एत्थ फासे पुणो-पुणो।

१५. आवंती केआवंती लोयंसि आरंभजीवी, एएसु चेव आरंभजीवी।

१६. एत्थ वि बाले परिपच्चमाणे रमति पावेहिं कम्मेहिं, 'असरणे सरणं'ति मण्णमाणे।

८. इस [जन्म-मरण की शृंखला] में बार-बार मोह उत्पन्न होता है।×

९. जो संशय को जानता है, वह संसार को जान लेता है—ज्ञेय का ज्ञान और हेय का परित्याग कर देता है।
जो संशय को नहीं जानता, वह संसार को नहीं जान पाता।*

१०. जो कुशल है—मोह के परिणाम को जानता है, वह मैथुन का सेवन नहीं करता।

११. [जो मन्दमति मैथुन का सेवन] कर लेता है और [पूछने पर] 'मैं नहीं जानता' [यह कहकर उसे अस्वीकार कर देता है,] यह उस मन्दमति की दोहरी मूर्खता है।

१२. प्राप्त काम-भोगों को पर्यालोचनापूर्वक जानकर उनके अनासेवन की आज्ञा दे—उनके कटु परिणामों का शिष्य को ज्ञान कराए। ऐसा मैं कहता हूं।

१३. तुम देखो! जो मनुष्य शरीर में आसक्त हैं, वे [विषयों से] खिंचे जा रहे हैं।

१४. इस (प्रवाह) में वे बार-बार दुःख को प्राप्त होते हैं।

१५. इस जगत् में जितने मनुष्य हिंसाजीवी हैं,+ वे इन (विषयों) में [आसक्त होने के कारण] ही हिंसा-जीवी हैं।

१६. अज्ञानी साधक संयम-जीवन में भी [विषय की प्यास से] छटपटाता हुआ अशरण को शरण मानता हुआ पाप कर्मों में रमण करता है।

× देखें, ३।८१।
+ यहां आरम्भ के हिंसा और प्रवृत्ति—दोनों अर्थ हो सकते हैं।

१७. इहमेगेसिं एगचरिया भवति—से बहुकोहे बहुमाणे बहुमा
बहुलोहे बहुरए बहुनडे बहुसढे बहुसंकप्पे, **आसवसक्कि
पलिउच्छन्ने, उट्ठियवायं पवयमाणे "मा मे केइ अदक्खू"**
अण्णाण-पमाय-दोसेणं, सययं मूढे धम्मं णाभिजाणइ।

१८. **अट्टा पया माणव! कम्मकोविया** जे अणुवरया, अविज्जा
पलिमोक्खमाहु, आवट्टं अणुपरियट्टंति।

—त्ति बेमि

बीओ उद्देसो

अप्पमादमग्ग-पदं

१९. आवंती केआवंती लोयंसि अणारंभजीवी, एतेसु चेव मणारंभ
जीवी।

२०. एत्थोवरए तं झोसमाणे 'अयं संधी' ति अदक्खु।

२१. जे इमस्स विग्गहस्स अयं खणेत्ति मन्नेसी।

२२. एस मग्गे आरिएहिं पवेदिते।

१७. कुछ साधु अकेले रहकर साधना करते हैं। किन्तु कोई भी एकचारी साधु जो अति क्रोधी, अति मानी, अति मायी, अति लोभी, अति आसक्त, नट की भांति बहुत रूप बदलने वाला, नाना प्रकार की शठता और संकल्प करने वाला [हिंसा आदि] आस्रवों में आसक्त और कर्म से आच्छन्न[1] होता है, 'हम [धर्म करने के लिए] उद्यत हुए हैं,' ऐसी घोषणा करने वाला 'कोई देख न ले', [इस आशंका से छिपकर अनाचरण करता है], वह अज्ञान और प्रमाद[2] के दोष से सतत मूढ़ बना हुआ [एकचारी होकर भी] धर्म को नहीं जानता।

१८. हे मानव! जो लोग [विषय की पीड़ा से] पीड़ित हैं, प्रवृत्ति-कुशल हैं, आस्रवों से विरत नहीं हैं और जो अविद्या से मोक्ष होना बतलाते हैं, वे संसार के भंवर-जाल में चक्कर लगाते रहते हैं।

—ऐसा मैं कहता हूं।

द्वितीय उद्देशक

अप्रमाद का मार्ग

१९. इस जगत् में जितने मनुष्य अहिंसाजीवी हैं, वे इन (विषयों) में [अनासक्त होने के कारण] ही अहिंसाजीवी हैं।

२०. इस अर्हत्-शासन में स्थित मुनि शरीर को मंथन कर, 'यह कर्म-विवर' (आश्रव) है, ऐसा देखकर उसे (कर्म-विवर को) क्षीण करता हुआ [प्रमाद न करे]।

२१. 'इस औदारिक शरीर का यह वर्तमान क्षण है', इस प्रकार जो [वर्तमान क्षण का] अन्वेषण करता है [वह सदा अप्रमत्त होता है]।

२२. यह [अप्रमाद का] मार्ग तीर्थंकरों ने बताया है।

---

१. [illegible] 'अन्ओवे' रूप माना है— [illegible]
[illegible] रूप माना है।

२. [illegible] कर्म का सूचक है और प्रमाद [illegible] कर्म का।

२३. उट्ठिए णो पमायए।

२४. जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं।

२५. पुढो छंदा इह माणवा, पुढो दुक्खं पवेदितं।

२६. से अविहिंसमाणे अणवयमाणे, पुट्ठो फासे विप्पणोल्लए।

२७. एस समिया-परियाए वियाहिते।

२८. जे असत्ता पावेहिं कम्मेहिं, उदाहु ते आयंका फुसंति।
इति उदाहु वीरे "ते फासे पुट्ठो हियासए"।

२९. से पुव्वं पेयं पच्छा पेयं भेउर-धम्मं, विद्धंसण-धम्मं, अधुवं, अणितियं, असासयं, चयावचइयं, विपरिणाम-धम्मं, पासह एयं रूवं।

३०. संधिं समुप्पेहमाणस्स एगायतण-रयस्स इह विप्पमुक्कस्स, णत्थि मग्गे विरयस्स त्ति बेमि।

परिग्गह-पदं

३१. आवंती केआवंती लोगंसि परिग्गहावंती—से अप्पं वा, बहुं वा, अणुं वा, थूलं वा, चित्तमंतं वा, अचित्तमंतं वा, एतेसु चेव परिग्गहावंती।

२३. पुरुष [अप्रमाद की साधना में] उत्थित होकर प्रमाद न करे।

२४. दुःख और सुख व्यक्ति का अपना-अपना होता है—[यह जानकर प्रमाद न करे]।

२५. इस जगत् में मनुष्य नाना प्रकार की इच्छा वाले होते हैं। उनका दुःख भी नाना प्रकार का होता है।

२६. वह [सुख-दुःख का अध्यवसाय स्वतंत्र होता है—यह जानने वाला] किसी की हिंसा न करे, [सूक्ष्म-जीवों के अस्तित्व को] अस्वीकार न करे। [ऐसा करने पर] जो कष्ट प्राप्त हों, उन्हें समभाव से सहन करे।

२७. वह (अहिंसक और सहिष्णु साधक) सत्य का पारगामी× कहलाता है।[1]

२८. जो मुनि पाप-कर्म में आसक्त नहीं हैं, उन्हें भी कभी-कभी शीघ्रघाती रोग पीड़ित कर देते हैं। इस पर भगवान् महावीर ने ऐसा कहा—'उन शीघ्रघाती रोगों के उत्पन्न होने पर मुनि उन्हें सहन करे।[2]

२९. तुम इस शरीर को देखो। यह पहले या पीछे एक दिन अवश्य ही छूट जायेगा। विनाश और विध्वंस इसका स्वभाव है। यह अध्रुव, अनित्य और अशाश्वत है। इसका उपचय और अपचय होता है। इसकी विविध अवस्थाएं होती हैं।[3]

३०. जो [कर्म-] विवर को देखता है, एक आयतन (वीतरागता) में लीन है, ऐहिक (शरीर आदि के) ममत्व से मुक्त है, हिंसा से विरत है, उसके लिए कोई मार्ग नहीं है। ऐसा मैं कहता हूं।[4]

परिग्रह

३१. इस जगत् में जितने मनुष्य परिग्रही हैं, वे अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त वस्तु का परिग्रहण करते हैं। वे इन (वस्तुओं) में [मूर्च्छा रखने के कारण] ही परिग्रही हैं।

¹ [illegible]

× वैकल्पिक अर्थ—वह (अहिंसक और सहिष्णु साधक) संयम का पारगामी कहलाता है।

३२. एतदेवेगेसिं महब्भयं भवति, लोगवित्तं च णं उवेहाए ।

३३. एए संगे अविजाणतो ।

३४. से सुपडिबुद्धं सूवणीयं ति णच्चा, पुरिसा ! परमचक्खू ! विपरक्कमा ।

३५. एतेसु चेव बंभचेरं ति बेमि ।

३६. से सुयं च मे अज्झत्थियं च मे, "बंध-पमोक्खो तुज्झ अज्झत्थेव" ।

३७. एत्थ विरते अणगारे, दीहरायं तितिक्खए ।
पमत्ते बहिया पास, अप्पमत्तो परिव्वए ।

३८. एयं मोणं सम्मं अणुवासिज्जासि ।

—त्ति बेमि ।

तइओ उद्देसो

अपरिग्गह-कामनिव्वेयण-पदं

३९. आवंती केआवंती लोयंसि अपरिग्गहावंती, एएसु चेव अपरिग्गहावंती ।

४०. सोच्चा वई मेहावी, पंडियाणं णिसामिया ।
समियाए धम्मे, आरिएहिं पवेदिते ।

३२. यह परिग्रह ही परिग्रही के लिए महाभय का हेतु होता है। तुम लोक-वृत्त को देखो।[1]

३३. जो परिग्रह की आसक्तियों को नहीं जानता, [वह महाभय को प्राप्त होता है]।

३४. [परिग्रह महाभय का हेतु है—] यह [प्रत्यक्षज्ञानी के द्वारा] सम्यक् प्रकार से दृष्ट और उपदर्शित है। [इसलिए] परमचक्षुष्मान् पुरुष ! तू [परिग्रह-संयम के लिए] पराक्रम कर।

३५. परिग्रह का संयम करने वालों में ही ब्रह्मचर्य होता है। ऐसा मैं कहता हूं।[2]

३६. मैंने सुना है, मैंने अनुभव किया है—बंध और मोक्ष तुम्हारी आत्मा में ही है।

३७. परिग्रह से विरत अनगार [अपरिग्रह के कारण उत्पन्न होने वाले] परीषहों को जीवन-पर्यन्त सहन करे।
तू देख ! जो प्रमत्त है, वे साधुत्व से परे हैं। इसलिए तू अप्रमत्त होकर परिव्रजन कर।

३८. इस (अहिंसा और अपरिग्रह रूप) मार्ग का तू सम्यक् पालन कर।

—ऐसा मैं कहता हूं।

तृतीय उद्देशक

अपरिग्रह और काम-निर्वेद

४१. जहेत्थ मए संधी झोसिए, एवमण्णत्थ संधी दुज्झोसिए भवति,
तम्हा बेमि—**णो णिहेज्ज वीरियं।**

४२. जे पुव्वुट्ठाई, णो पच्छा-णिवाई।
जे पुव्वुट्ठाई, पच्छा-णिवाई।
जे णो पुव्वुट्ठाई, णो पच्छा-णिवाई।

४३. सेवि तारिसए सिया, जे परिण्णाय लोगमणुस्सिओ।

**४४. एयं णियाय मुणिणा पवेदितं—इह आणाकंखी पंडिए अणिहे,
पुव्वावररायं जयमाणे, सया सीलं संपेहाए,
सुणिया भवे अकामे अझंझे।**

४५. इमेणं चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ?

४६. जुद्धारिहं खलु दुल्लहं।

४७. जहेत्थ कुसलेहिं परिण्णा-विवेगे भासिए।

४८. चुए हु बाले गब्भाइसु रज्जइ।

४९. अस्सिं चेयं पव्वुच्चति, रूवंसि वा छणंसि वा।

५०. से हु एगे संविद्धपहे मुणी, अण्णहा लोगमुवेहमाणे।

४१. [भगवान् महावीर ने परिषद् के बीच कहा—]"जैसे मैंने ज्ञान, दर्शन और चारित्र की समन्वित आराधना की है, वैसी आराधना अन्यत्र दुर्लभ है। इसलिए मैं कहता हूं कि [तुम इस समन्वित आराधना के पथ को प्राप्त कर] शक्ति का गोपन मत करो।"'

४२. कोई पुरुष पहले उठता है और जीवन-पर्यन्त उत्थित ही रहता है—कभी नहीं गिरता।
कोई पुरुष पहले उठता है और बाद में गिर जाता है।
कोई पुरुष न पहले उठता है और न बाद में गिरता है।"

४३. जो भिक्षु [लोक] का त्याग कर, फिर उसका आश्रय लेता है, वह भी वैसा [गृहवासी जैसा] हो जाता है।

४४. इस (उत्थान-पतन के कारण) को जानकर भगवान् ने कहा—पंडित मुनि आज्ञा में रुचि रखे, स्नेह न करे, रात्रि के प्रथम और अन्तिम भाग में स्वाध्याय और ध्यान करे, सदा शील का अनुपालन करे, [लोक में सारभूत तत्त्व को] सुनकर काम और कलह से मुक्त बन जाए।"

४५. इस (कर्म-शरीर) के साथ युद्ध कर; दूसरों के साथ युद्ध करने से तुम्हें क्या लाभ?"

४६. युद्ध के योग्य [सामग्री] निश्चित ही दुर्लभ है।"

४७. भगवान् ने युद्ध के प्रसंग में परिज्ञा और विवेक का प्रतिपादन किया।"

४८. [उत्थित होकर] च्युत होने वाला अज्ञानी साधक गर्भ आदि [दुश्चक्र*] में फंस जाता है।

५१. इति कम्मं परिण्णाय, सव्वसो से ण हिंसति। संजमति णो पगब्भति।

५२. उवेहमाणो पत्तेयं सायं।

५३. वण्णाएसी णारभे कंचणं सव्वलोए।

५४. एगप्पमुहे विदिसप्पइण्णे, णिव्विन्नचारी अरए पयासु।

५५. से वसुमं सव्व-समन्नागय-पण्णाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावं कम्मं।

५६. तं णो अन्नेसिं।

५७. जं सम्मं ति पासहा, तं मोणं ति पासहा।
जं मोणं ति पासहा, तं सम्मं ति पासहा।

५८. ण इमं सक्कं सिढिलेहिं अद्दिज्जमाणेहिं गुणासाएहिं वंकसमायारेहिं पमत्तेहिं गारमावसंतेहिं।

५९. मुणी मोणं समायाए, धुणे कम्म-सरीरगं।

५१. इस प्रकार कर्म [और उनके हेतु] को पूर्ण रूप से जानकर वह किसी की हिंसा नहीं करता। वह [इन्द्रियों का] संयम करता है, [उनका] उच्छृंखल व्यवहार नहीं करता है।

५२. सुख अपना-अपना होता है (—हर प्राणी सुख का इच्छुक है)—यह देखता हुआ [वह किसी की हिंसा न करे]।

५३. मुनि यश* का इच्छुक होकर किसी भी क्षेत्र में कुछ भी न करे।

५४. मुनि अपने लक्ष्य की ओर मुख किए [चले]; वह [ज्ञान, दर्शन और चारित्र की] विरोधी दिशाओं का पार पा जाए; [वस्तुओं के प्रति] विरक्त रहे; स्त्रियों में रत न बने।[18]

५५. बोधि-सम्पन्न साधक के लिए पूर्ण सत्य-प्रज्ञ अन्तःकरण से पाप-कर्म (हिंसा का आचरण व विषय का सेवन) अकरणीय है।[19]

५६. [इसलिए] साधक उसका अन्वेषण न करे।

५७. तुम देखो—जो सम्यक् है, वह मौन† है;
जो मौन है, वह सम्यक् है।[20]

५८. जिनकी धृति मन्द है, जो स्नेहार्द्र हैं, विषय-लोलुप हैं, मायापूर्ण आचार वाले हैं, प्रमत्त हैं और जो गृहवासी हैं, उनके लिए यह (मौन) शक्य नहीं है।

५९. मुनि मौन‡ को प्राप्त कर, कर्म-शरीर को प्रकम्पित करे।

---

* 'वर्ण' शब्द के [illegible] अर्थ होते हैं—यश और रूप। रूप के सन्दर्भ में प्रस्तुत सूत्र का अनुवाद इस प्रकार हो सकता है—मुनि सौन्दर्य बढ़ाने का इच्छुक होकर कहीं भी प्रवृत्ति न करे—औषधि आदि का प्रयोग न करे।
वैकल्पिक रूप में इसका अर्थ यह भी किया जा सकता है—मुनि [illegible] (संयम) का इच्छुक होकर कहीं भी कुछ भी न करे।

† देखिए, [illegible] टिप्पण।

‡ देखिए, [illegible] टिप्पण।

६०. पंतं लूहं सेवंति, वीरा समत्तदंसिणो।

६१. एस ओहंतरे मुणी, तिण्णे मुत्ते विरए वियाहिए।

—त्ति बेमि।

चउत्थो उद्देसो

अवियत्तस्स एगल्लविहार-पदं

६२. गामाणुगामं दूइज्जमाणस्स दुज्जातं दुप्परक्कंतं भवति अवियत्तस्स भिक्खुणो।

६३. वयसा वि एगे बुइया कुप्पंति माणवा।

६४. उन्नयमाणे य णरे, महता मोहेण मुज्झति।

६५. संबाहा बहवे भुज्जो-भुज्जो दुरतिक्कमा अजाणतो अपासतो।

६६. एयं ते मा होउ।

६७. एयं कुसलस्स दंसणं।

६०. समत्वदर्शी[४] वीर प्रान्त (नीरस) और रूक्ष [आहार आदि] का सेवन करते हैं।

६१. वह जन्म-मृत्यु के प्रवाह को तरने वाला मुनि तीर्ण, मुक्त और विरत कहलाता है।

—ऐसा मैं कहता हूं।

चतुर्थ उद्देशक

अव्यक्त का एकाकी विहार

६२. जो भिक्षु अव्यक्त अवस्था में [अकेला] ग्रामानुग्राम विहार करता है, वह उपद्रवों से अभिभूत होता है और अवांछनीय पराक्रम करता है।[५]

६३. [अव्यक्त] मनुष्य [थोड़े से प्रतिकूल] वचन से भी कुपित हो जाते हैं।[६]

६४. [अव्यक्त] मनुष्य प्रशंसित होने पर महान् मोह से मूढ़ हो जाता है।

६५. अज्ञानी और अद्रष्टा (अव्यक्त) मनुष्य बार-बार आने वाली बहुत सारी बाधाओं का पार नहीं पा सकता।[७]

६६. ['मैं अव्यक्त अवस्था में अकेला विहार करूं'—] यह तुम्हारे मन में भी न हो।

६७. यह महावीर का दर्शन है। [—अव्यक्त के एकाकी विहार में ये दोष उनके द्वारा दृष्ट हैं।]

६८. तद्दिट्ठीए तम्मोत्तीए तप्पुरक्कारे तस्सण्णी तन्निवेसणे।

इरिया-पदं

६९. जयंविहारी चित्तणिवाती पंथणिज्झाती पलीवाहरे, पासिय पाणे गच्छेज्जा।

७०. से अभिक्कममाणे पडिक्कममाणे संकुचेमाणे पसारेमाणे विणियट्टमाणे संपलिमज्जमाणे।

कम्मणो बंध-विवेग-पदं

७१. एगया गुणसमियस्स रीयतो कायसंफासमणुचिण्णा एगतिया पाणा उद्दायंति।

७२. इहलोग-वेयण-वेज्जावडियं।

६८. मुनि उस (सत्य के दर्शन) में दृष्टि नियोजित कर, उसमें तन्मय हो, उसे प्रमुख बना, उसकी स्मृति में एकाग्र हो और उसमें दत्तचित्त होकर उसका अनुगमन करे।

ईर्या

६९. मुनि सावधान होकर चलने की गति में एकाग्र कर, पथ पर दृष्टि टिका कर चले। जीव-जन्तु को देखकर पैर को संकुचित कर ले और मार्ग में आने वाले प्राणियों को देखकर चले।

७०. वे प्राणी सामने आ रहे हों, लौट रहे हों, संकुचित हो रहे हों, फैल रहे हों, ठहरे हुए हों या धूलि में [illegible] हों।

कर्म का बंध और विवेक

७१. किसी तरह प्रवृत्ति करते हुए अप्रमत्त (सातवें गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान वाले) मुनि के चरण का स्पर्श पाकर कुछ प्राणी परितप्त होते हैं या मर जाते हैं।

७२. [विधिपूर्वक प्रवृत्ति करते हुए प्रमत्त (छठे गुणस्थान वाले) मुनि के चरण के नीचे आकर कोई प्राणी परितप्त हो या मर जाए,] तो उसके वर्तमान जीवन में वेदनीय कर्म का बंध होता है।

७३. जं आउट्टिकयं कम्मं, तं परिण्णाए विवेगमेति।

७४. एवं से अप्पमाएणं, विवेगं किट्टति वेयवी।

बंभचेर-पदं

७५. से पभूयदंसी पभूयपरिण्णाणे उवसंते समिए सहिते सया जए दट्ठुं विप्पडिवेदेति अप्पाणं—

७६. किमेस जणो करिस्सति?

७७. एस से परमारामो, जाओ लोगम्मि इत्थीओ।

७८. मुणिणा हु एतं पवेदितं, उब्बाहिज्जमाणे गामधम्मेहिं—

७९. अवि णिब्बलासए।

८०. अवि ओमोयरियं कुज्जा।

८१. अवि उड्ढंठाणं ठाइज्जा।

८२. अवि गामाणुगामं दूइज्जेज्जा।

८३. अवि आहारं वोच्छिदेज्जा।

८४. अवि चए इत्थीसु मणं।

७३. [प्रमत्त (षष्ठ गुणस्थान वाले) मुनि के] अविधिपूर्वक प्रवृत्ति करते हुए जो कर्म-बन्ध होता है, उसका [विलय] प्रायश्चित्त* के द्वारा होता है।

७४. [प्रमाद से किए हुए कर्म-बन्ध का] विलय अप्रमाद से होता है—सूत्रकार ने ऐसा कहा है।

ब्रह्मचर्य

७५. विपुलदर्शी, विपुलज्ञानी, उपशान्त, सम्यक् प्रवृत्त, [ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र-] सहित, सतत इन्द्रिय-जयी मुनि [ब्रह्मचर्य से विचलित करने के लिए उद्यत स्त्री-जन को] देखकर मन में सोचता है—

७६. यह जन मेरा क्या करेगा?

७७. यद्यपि इस जगत् में जो स्त्रियाँ हैं, वे परम सुख देने वाली हैं, [किन्तु मैं सहज सुखी हूँ, वे मुझे क्या सुख देंगी?]

७८. वासना से पीड़ित मुनि के लिए भगवान् ने यह उपदेश दिया—

७९. वह निर्बल भोजन करे।

८०. ऊनोदरिका करे—कम खाए।

८१. ऊर्ध्व स्थान (घुटनों को ऊँचा और सिर को नीचा) कर कायोत्सर्ग करे।

८२. ग्रामानुग्राम विहार करे।

८३. आहार का परित्याग (अनशन) करे।

८४. स्त्रियों के प्रति दौड़ने वाले मन का त्याग करे।

* [illegible]

८५. पुव्वं दंडा पच्छा फासा, पुव्वं फासा पच्छा दंडा।

८६. इच्चेते कलहासंगकरा भवंति। पडिलेहाए आगमेत्ता आणवेज्जा अणासेवणाए त्ति बेमि।

८७. से णो काहिए णो पासणिए णो संपसारए णो ममाए णो कयकिरिए वइगुत्ते अज्झप्प-संवुडे परिवज्जए सदा पावं।

८८. एतं मोणं समणुवासिज्जासि।

—त्ति बेमि।

पंचमो उद्देसो

आयरिय-पदं

८९. से बेमि—तं जहा,
अवि हरए पडिपुण्णे, चिट्ठइ समंसि भोमे।
उवसंतरए सारक्खमाणे, से चिट्ठति सोयमज्झगए।

९०. से पास सव्वतो गुत्ते, पास लोए महेसिणो,
जे य पण्णाणमंता पवुद्धा आरंभोवरया।

९१. सम्ममेयंति पासह।

९२. कालस्स कंखाए परिव्वयंति त्ति बेमि।

सद्धा-पदं

९३. वितिगिच्छ-समावन्नेणं अप्पाणेणं णो लभति समाधिं ।

९४. सिया वेगे अणुगच्छंति, असिया वेगे अणुगच्छंति,
अणुगच्छमाणेहिं अणणुगच्छमाणे कहं ण णिव्विज्जे ?

९५. तमेव सच्चं णीसंकं, जं जिणेहिं पवेइयं ।

मज्झत्थ-पदं

९६. सड्ढिस्स णं समणुण्णस्स संपव्वयमाणस्स—
समियंति मण्णमाणस्स एगया समिया होइ ।
समियंति मण्णमाणस्स एगया असमिया होइ ।
असमियंति मण्णमाणस्स एगया समिया होइ ।
असमियंति मण्णमाणस्स एगया असमिया होइ ।
समियंति मण्णमाणस्स समिया वा, असमिया वा, समिया होइ उवेहाए ।
असमियंति मण्णमाणस्स समिया वा, असमिया वा, असमिया होइ उवेहाए ।

श्रद्धा

९७. शंकाशील आत्मा समाधि को प्राप्त नहीं होता।

९८. कुछ [आचार्य] के आश्रित होकर अनुगमन करते हैं; कुछ आश्रित हुए बिना अनुगमन करते हैं। अनुगमन करने वालों के बीच में अनुगमन नहीं करने वाला [संयम के प्रति] उदासीन कैसे नहीं होगा?

९९. वही सत्य और निःशंक है, जो तीर्थंकरों के द्वारा प्रवेदित है।

माध्यस्थ्य

१००. श्रद्धावान्, सम्यक् अनुज्ञा (या आचार) वाला तथा सम्यक् प्रव्रज्या वाला मुनि—
किसी व्यवहार को सम्यक् मानता है और वास्तव में वह सम्यक् है।
वह किसी व्यवहार को सम्यक् मानता है और वास्तव में वह असम्यक् है।
वह किसी व्यवहार को असम्यक् मानता है और वास्तव में वह सम्यक् है।
वह किसी व्यवहार को असम्यक् मानता है और वास्तव में वह असम्यक् है।
व्यवहार वास्तव में सम्यक् हो या असम्यक्, किन्तु सम्यक् मानने वाले के मध्यस्थ (राग-द्वेष रहित या निष्पक्ष) भाव के कारण वह सम्यक् होता है।
व्यवहार वास्तव में सम्यक् हो या असम्यक्, किन्तु असम्यक् मानने वाले के सापेक्ष भाव के कारण वह असम्यक् होता है।

सद्धा-पदं

६३. वितिगिच्छ-समावन्नेणं अप्पाणेणं णो लभति समाधिं ।

६४. सिया वेगे अणुगच्छंति, असिया वेगे अणुगच्छंति,
अणुगच्छमाणेहिं अणणुगच्छमाणे कहं ण णिव्विज्जे ?

६५. तमेव सच्चं णीसंकं, जं जिणेहिं पवेइयं ।

मज्झत्थ-पदं

६६. सड्ढिस्स णं समणुण्णस्स संपव्वयमाणस्स—
समियंति मण्णमाणस्स एगया समिया होइ ।
समियंति मण्णमाणस्स एगया असमिया होइ ।
असमियंति मण्णमाणस्स एगया समिया होइ ।
असमियंति मण्णमाणस्स एगया असमिया होइ ।
समियंति मण्णमाणस्स समिया वा, असमिया वा, समिया होइ उवेहाए ।
असमियंति मण्णमाणस्स समिया वा, असमिया वा, असमिया होइ उवेहाए ।

श्रद्धा

९३. शंकाशील आत्मा समाधि को प्राप्त नहीं होता।[३६]

९४. कुछ [आचार्य] के आश्रित होकर अनुगमन करते हैं; कुछ आश्रित× हुए विना अनुगमन करते हैं। अनुगमन करने वालों के बीच में अनुगमन नहीं करने वाला [संयम के प्रति] उदासीन कैसे नहीं होगा+ ?[३७]

९५. वही सत्य और निःशंक है, जो तीर्थंकरों के द्वारा प्ररूपित है।

माध्यस्थ्य

९६. श्रद्धालु, सम्यग् अनुज्ञा‡ (या आचार) वाला तथा सम्यग् प्रव्रज्या वाला मुनि—
किसी व्यवहार को सम्यग् मानता है और वास्तव में वह सम्यग् है।
वह किसी व्यवहार को सम्यग् मानता है और वास्तव में वह असम्यग् है।
वह किसी व्यवहार को असम्यग् मानता है और वास्तव में यह सम्यग् है।
वह किसी व्यवहार को असम्यग् मानता है और वास्तव में वह असम्यग् है।
व्यवहार वास्तव में सम्यग् हो या असम्यग्, किन्तु सम्यग् मानने वाले के मध्यस्थ (राग-द्वेष रहित या निष्पक्ष) भाव के कारण वह सम्यग् होता है।[३८]
व्यवहार वास्तव में सम्यग् हो या असम्यग्, किन्तु असम्यग् मानने वाले के मध्यस्थ भाव के कारण वह असम्यग् होता है।

×चूर्णिकार और वृत्तिकार 'सित' और 'असित' शब्द मानकर इनका अर्थ 'गृहस्थ' और 'मुनि' किया है। हमने 'श्रित' और 'अश्रित' मानकर इनका अर्थ किया है।

+इस सूत्र के वैकल्पिक अनुवाद इस प्रकार किए जा सकते हैं—

१. कुछ मुनि [आचार्य का] अनुगमन करते हैं; कुछ गृहस्थ भी उनका अनुगमन करते हैं। अनुगमन करने वालों के बीच में अनुगमन नहीं करने वाला [संयम के प्रति] उदासीन कैसे नहीं होगा ?

२. [आचार्य द्वारा सूक्ष्म तत्त्व का विश्लेषण करने पर उसमें शंका] रखने वाले भी उसे समझ लेते हैं और [शंका] नहीं रखने वाले भी उसे समझ लेते हैं। उन समझने वालों के मध्य में नहीं समझने वाला शंकाशील रहकर [संयम के प्रति] उदासीन कैसे नहीं होगा ?

‡ समणुन्न—सम्यग् अनुज्ञा—योग्यता यस्य सः समनुज्ञः।

९७. उवेहमाणो अणुवेहमाणं बूया "उवेहाहि समियाए।"

९८. इच्चेवं तत्थ संधी झोसितो भवति।

अहिंसा-पदं

९९. उट्ठियस्स ठियस्स गतिं समणुपासह।

१००. एत्थवि बालभावे अप्पाणं णो उवदंसेज्जा।

१०१. तुमंसि नाम सच्चेव जं 'हंतव्वं' ति मन्नसि,
तुमंसि नाम सच्चेव जं 'अज्जावेयव्वं' ति मन्नसि,
तुमंसि नाम सच्चेव जं 'परितावेयव्वं' ति मन्नसि,
तुमंसि नाम सच्चेव जं 'परिघेतव्वं' ति मन्नसि।'
तुमंसि नाम सच्चेव जं 'उद्दवेयव्वं' ति मन्नसि।

१०२. अंजू चेय-पडिबुद्ध-जीवी, तम्हा ण हंता ण विघायए।

१०३. अणुसंवेयणमप्पाणेणं, जं 'हंतव्वं' ति णाभिपत्थए।

आय-पदं

१०४. जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया।
जेण विजाणति से आया।

१०५. तं पडुच्च पडिसंखाए॥

९७. मध्यस्थ भाव रखने वाला मध्यस्थ भाव न रखने वाले से कहे—"तुम सम्यक् (सत्य) के लिए मध्यस्थ भाव का अवलम्बन करो।"

९८. पूर्वोक्त पद्धति से [व्यवहार में होने वाली सम्यग् और असम्यक् की] समस्या+ को सुलझाया× जा सकता है।

अहिंसा

९९. तुम [संयम में] उत्थित और स्थित पुरुष की गति को देखो।[39]

१००. [हिंसा निर्दोष है] इस बाल-भाव में भी तुम अपने को प्रदर्शित मत करो।

१०१. जिसे तू हनन योग्य मानता है, वह तू ही है।
जिसे तू आज्ञा में रखने योग्य मानता है, वह तू ही है।
जिसे तू परिताप देने योग्य मानता है, वह तू ही है।
जिसे तू दास बनाने योग्य मानता है, वह तू ही है।
जिसे तू मारने योग्य मानता है, वह तू ही है।[40]

१०२. ज्ञानी पुरुष ऋजु तथा [हन्तव्य और घातक की एकता को] समझ कर जीने वाला होता है। इसलिए वह स्वयं हनन नहीं करता और दूसरों से नहीं करवाता।[41]

१०३. अपना किया हुआ कर्म अपने को ही भुगतना होता है; इसलिए किसी के हनन की इच्छा मत करो।[42]

आत्मा

१०४. जो आत्मा है, वह ज्ञाता है और जो ज्ञाता है, वह आत्मा है।
क्योंकि वह जानता है, इसलिए वह आत्मा है।[43]

१०५. उस (ज्ञान की विभिन्न परिणतियों) की अपेक्षा से आत्मा का व्यपदेश होता है।

+ संधि—ग्रन्थि।

× झोसितो—क्षपितः।

१०६. एस आयावादी समियाए-परियाए वियाहिते ।

—त्ति बेमि ।

छट्ठो उद्देसो

मग्गदंसण-पदं

१०७. अणाणाए एगे सोवट्ठाणा, आणाए एगे निरुवट्ठाणा ।

१०८. एतं ते मा होउ ।

१०९. एयं कुसलस्स दंसणं ।

११०. तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए तप्पुरक्कारे तस्सण्णी तन्निवेसणे ।

१११. अभिभूय अदक्खू, अणभिभूते पभू निरालंबणयाए ।

११२. जे महं अबहिमणे ।

११३. पवाएणं पवायं जाणेज्जा ।

११४. सहसम्मइयाए, परवागरणेणं, अण्णेसिं वा अंतिए सोच्चा ।

११५. णिद्देसं णातिवट्टेज्जा मेहावी ।

१०६. यह आत्मवादी सत्य[+] का पारगामी कहलाता है।

—ऐसा मैं कहता हूं।

षष्ठ उद्देशक

पथ-दर्शन

१०७. कुछ पुरुष अनाज्ञा में उद्यमी और आज्ञा में अनुद्यमी होते हैं।

१०८. [अनाज्ञा में उद्यम और आज्ञा में अनुद्यम—]यह तुम्हारे मन में न हो।

१०९. यह महावीर का दर्शन है।

११०. मुनि उस (महावीर के दर्शन) में दृष्टि नियोजित करे; उसमें तन्मय हो; उसे प्रमुख बनाए; उसकी स्मृति में उपयुक्त हो और उसमें दत्तचित्त हो उसका अनुसरण करे।

१११. [सत्य का] साक्षात्कार उसी ने किया है जिसने [साधना के विघ्नों को] अभिभूत किया है। जो [बाधाओं से] अभिभूत नहीं होता, वही निरालम्बी होने में समर्थ होता है।[१४]

११२. जो महान् [मोक्षलक्षी] होता है, वह [यौगिक विभूतियों के प्रयोग को देखकर] मन को असंयम में न ले जाए।

११३. प्रवाद को प्रवाद से जानना चाहिए।[१५]

११४. पूर्व जन्म की स्मृति से, तीर्थंकर से प्रश्न का उत्तर पाकर अथवा अन्य किसी अतिशय ज्ञानी से सुनकर [प्रवाद को जाना जा सकता है।]

११५. मेधावी निर्देश का अतिक्रमण न करे।

+ देखें, ५।२७, पाद-टिप्पण। इस सूत्र का वैकल्पिक अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—यह आत्मवादी समता का पारगामी कहलाता है।

सच्चस्स अणुसीलण-पदं

११६. सुपडिलेहिय सव्वतो सव्वयाए सम्ममेव समभिजाणिया।

११७. इहारामं परिण्णाय, अल्लीण-गुत्तो परिव्वए।
णिट्ठियट्ठी वीरे, आगमेण सदा परक्कमेज्जासि त्ति बेमि।

११८. उड्ढं सोता अहे सोता, तिरियं सोता वियाहिया,
एते सोया वियक्खाया, जेहिं संगंति पासहा॥

११९. आवट्टं तु उवेहाए, एत्थ विरमेज्ज वेयवी।

१२०. विणएत्तु सोयं णिक्खम्म, एस महं अकम्मा जाणति पासति।

१२१. पडिलेहाए णावकंखति, इह आगतिं गतिं परिण्णाय।

१२२. अच्चेइ जाइ-मरणस्स वट्टमग्गं वक्खाय-रए।

सत्य का अनुशीलन

११६. सब प्रकार से, सम्पूर्ण रूप से निरीक्षण कर सत्य[×] का ही अनुशीलन करना चाहिए।

११७. इस सत्य के अनुशीलन में आत्म-रमण की परिज्ञा कर, [आत्म-]लीन और जितेन्द्रिय होकर परिव्रजन करे। [संयम साधना द्वारा] कृतार्थ, वीर मुनि सदा आगम-निर्दिष्ट अर्थ[+] के अनुसार पराक्रम करे। ऐसा मैं कहता हूं।

११८. ऊपर स्रोत हैं, नीचे स्रोत हैं, मध्य में स्रोत हैं। ये स्रोत कहे गए हैं। इनके द्वारा मनुष्य आसक्त होता है—यह तुम देखो।[‡]

११९. [राग और द्वेष के] आवर्त्त का निरीक्षण कर ज्ञानी पुरुष उससे विरत हो जाए।

१२० इन्द्रिय-विषय का परित्याग कर निष्क्रमण करने वाला महान् साधक अकर्म (ध्यानस्थ) होकर[†] जानता, देखता है।

१२१. [सत्य को] देखने वाला आगति और गति (संसार-भ्रमण) की परिज्ञा कर [विषयों की] आकांक्षा नहीं करता।

१२२. सूत्र और अर्थ में रत मुनि जन्म और मृत्यु के वृत्त-मार्ग (चक्राकार मार्ग) का अतिक्रमण कर देता है।

× इसका वैकल्पिक अनुवाद इस प्रकार किया जा सकता है—सब प्रकार से, सम्पूर्ण रूप से निरीक्षण कर साम्य का ही अनुशीलन करना चाहिए।

+ देखें, दसवेआलिय चूलिया, २।११।

‡ देखें, २।१२५ का टिप्पण।

† तुलना, २।३८।

परमप्प-पदं

१२३. सव्वे सरा णियट्टंति।

१२४. तक्का जत्थ ण विज्जइ।

१२५. मई तत्थ ण गाहिया।

१२६. ओए अप्पतिट्ठाणस्स खेयण्णे।

१२७. से ण दीहे, ण हस्से, ण वट्टे, ण तंसे, ण चउरंसे, ण परिमंडले।

१२८. ण किण्हे, न णीले, ण लोहिए, ण हालिद्दे, ण सुक्किल्ले।

१२९. ण सुब्भिगंधे, ण दुरभिगंधे।

१३०. ण तित्ते, ण कडुए, ण कसाए, ण अंबिले, ण महुरे।

१३१. ण कक्खडे, ण मउए, ण गरुए, ण लहुए, ण सीए, ण उण्हे, ण णिद्धे, ण लुक्खे।

१३२. ण काऊ।

१३३. ण रुहे।

१३४. ण संगे।

१३५. ण इत्थी, ण पुरिसे, ण अण्णहा।

१३६. परिण्णे सण्णे।

परमात्मा

१२३. सब स्वर लौट आते हैं—परमात्मा शब्द के द्वारा प्रतिपाद्य नहीं है।

१२४. वहां कोई तर्क नहीं है—परमात्मा तर्क-गम्य नहीं है।

१२५. वह मति के द्वारा ग्राह्य नहीं है।

१२६. वह अकेला, शरीर-रहित और ज्ञाता है।

१२७. वह [परमात्मा] न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्त है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है और न परिमण्डल है।

१२८. वह न कृष्ण है, न नील है, न लाल है, न पीत है और न शुक्ल है।

१२९. वह न सुगन्ध है और न दुर्गन्ध है।

१३०. वह न तिक्त है, न कटु है, न कषाय है, न अम्ल है और न मधुर है।

१३१. वह न कर्कश है, न मृदु है, न गुरु है, न लघु है, न शीत है, न उष्ण है, न स्निग्ध है और न रूक्ष है।

१३२. वह शरीरवान् नहीं है।

१३३. वह जन्मधर्मा नहीं है।

१३४. वह लेप-युक्त नहीं है।

१३५. वह न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक है।

१३६. वह परिज्ञा है, संज्ञा है—सर्वतः चैतन्यमय है।

१३७. उवमा ण विज्जए।

१३८. अरूवी सत्ता।

१३९. अपयस्स पयं णत्थि।

१४०. से ण सद्दे, ण रूवे, ण गंधे, ण रसे, ण फासे, इच्चेताव।

—त्ति बेमि।

१३७. [उसका बोध करने के लिए] कोई उपमा नहीं है।

१३८. वह अमूर्त्त अस्तित्व है।

१३९. वह पदातीत है। [उसका बोध करने के लिए] कोई पद नहीं है।

१४०. वह न शब्द है, न रूप है, न गन्ध है, न रस और न स्पर्श है। इतना ही।

—ऐसा मैं कहता हूं।

टिप्पण

सूत्र—१

१. हिंसा के प्रयोजन तीन हैं—काम, अर्थ और धर्म। अपने, दूसरे या दोनों के प्रयोजन की पूर्ति के लिए की जाने वाली प्रवृत्ति अर्थवान् और जिसका कोई प्रयोजन न हो, वह अनर्थ कहलाती है—**आतपरउभयहेत्तुं अट्ठा, सेसं अणट्ठाए** (चूर्णि)।

सूत्र—२

२. कामना का अतिक्रमण करना सहज नहीं होता। इसलिए उसे 'गुरु' कहा गया है।

सूत्र—३

३. मनुष्य सुख का अर्थी होकर काम-भोग का सेवन करता है। उससे अनेक शारीरिक और मानसिक समस्याएं उत्पन्न होती हैं; फलतः वह सुख से दूर चला जाता है। प्रयोजन में जो होता है, वह परिणाम में नहीं होता।

सूत्र—९

४. संशय दर्शन का मूल है—प्रस्तुत सूत्र में यही तथ्य प्रतिपादित है। जिसके मन में संशय नहीं होता—जिज्ञासा नहीं होती, वह सत्य को प्राप्त नहीं कर सकता। भगवान् महावीर के ज्येष्ठ शिष्य गौतम के मन में जब-जब संशय होता, तब वे भगवान् के पास जाकर उसका समाधन लेते।

'संशयात्मा विनश्यति'—संशयालु नष्ट होता है। इस पद में संशय का अर्थ सन्देह है। प्रस्तुत आगम के ५।९३ सूत्र में कहा है कि सन्देहशील मनुष्य समाधि को प्राप्त नहीं होता।

'न संशयमनारूह्य नरो भद्राणि पश्यति'—संशय का सहारा लिए बिना मनुष्य कल्याण को नहीं देखता। इस अर्धश्लोक में प्रस्तुत सूत्र की प्रतिध्वनि है।

संसार का अर्थ है जन्म-मरण की परम्परा। जब तक उसके प्रति मन में संशय नहीं होता, वह सुखद है या दुःखद, ऐसा विकल्प उत्पन्न नहीं होता, तब तक वह चलता रहेगा। उसके प्रति संशय उत्पन्न होना ही उसकी जड़ में प्रहार करना है।

सूत्र—१८

५. मोक्ष के दो साधन हैं—विद्या और आचरण। (**आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खो**।—सूयगडो, १।१२।११)। अविद्या मोक्ष का साधन नहीं है। जो दार्शनिक अविद्या से मोक्ष होना बतलाते हैं, वे मोक्ष के असाधन को उसका साधन बतलाकर संसार के प्रवाह में चले जाते हैं।

सूत्र—२०-२१

६. महावीर की साधना का मौलिक स्वरूप अप्रमाद है। अप्रमत्त रहने के लिए जो उपाय बतलाए गए हैं, उनमें शरीर की क्रिया और संवेदना को देखना मुख्य उपाय है। जो साधक वर्तमान क्षण में शरीर में घटित होने वाली सुख-दुःख की वेदना को देखता है, वर्तमान क्षण का अन्वेषण करता है, वह अप्रमत्त हो जाता है।

यह शरीर-दर्शन की प्रक्रिया अन्तर्मुख होने की प्रक्रिया है। सामान्यतः बाहर की ओर प्रवाहित होने वाली चैतन्य की धारा को अन्तर की ओर प्रवाहित करने का प्रथम साधन स्थूल शरीर है। इस स्थूल शरीर के भीतर तैजस् और कर्म—ये दो सूक्ष्म शरीर हैं। उनके भीतर आत्मा है। स्थूल शरीर की क्रियाओं और संवेदनों को देखने का अभ्यास करने वाला क्रमशः तैजस् और कर्म-शरीर को देखने लग जाता है। शरीर-दर्शन का दृढ़ अभ्यास और मन के सुशिक्षित होने पर शरीर में प्रवाहित होने वाली चैतन्य की धारा का साक्षात्कार होने लग जाता है। जैसे-जैसे साधक स्थूल से सूक्ष्म दर्शन की ओर आगे बढ़ता है, वैसे-वैसे उसका अप्रमाद बढ़ता जाता है।

सूत्र—२८-२९

७. एक बार कुछ मुनि भगवान् महावीर के पास आए और जिज्ञासा के स्वर में बोले—'भन्ते ! जो मुनि तपस्वी, संयमी और ब्रह्मचारी हैं, उन पर भी रोग का आक्रमण होता है, यह क्यों ?'

भगवान् ने कहा—'आर्यो ! तुम्हें संयम का हेतु और रोग का हेतु जानना चाहिए।'

'भन्ते ! वह क्या है ?'

'संयम का हेतु चारित्र मोह कर्म का विलय है और रोग का हेतु वेदनीय कर्म है। दोनों के हेतु भिन्न हैं; इसलिए संयमी के रोग हो भी सकता है। वह केवली के भी हो सकता है।'

'भन्ते ! रोग उत्पन्न होने पर क्या करना चाहिए ?'

'उन्हें सहन करना चाहिए।'

इस प्रसंग में भगवान् ने उन्हें आलम्बन-सूत्र का उपदेश दिया। वह २९वें सूत्र में उपलब्ध है।

इष्ट आहार से शरीर का उपचय होता है और अनिष्ट आहार से उसका अपचय होता है। इसका दूसरा अर्थ यह है—चालीस वर्ष की अवस्था तक शरीर का उपचय होता है और उसके पश्चात् उसका अपचय होना प्रारम्भ हो जाता है।

सूत्र—३०

८. जन्म, जरा, रोग और मृत्यु—ये चार दुःख के मार्ग हैं। विरत के लिए ये मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं।

सूत्र—३२

९. जैसे सांसारिक मनुष्य के मन में परिग्रह की सुरक्षा का भय बना रहता है, वैसे ही वस्तु के प्रति मूर्छा रखने वाले साधक के मन में भी उसकी सुरक्षा का भय बना रहता है।

सूत्र—३५

१०. ब्रह्मचर्य के तीन अर्थ हो सकते हैं— बस्ति-संयम, गुरुकुलवास और आचार। शरीर भी परिग्रह है। जिसकी शरीर में आसक्ति होती है, वह बस्ति-संयम नहीं कर सकता। जिसकी शरीर और वस्तुओं में आसक्ति होती है, वह न गुरुकुलवास (साधु-संघ) में रह सकता है और न अहिंसा आदि चारित्र-धर्म का पालन भी कर सकता। यहां ये तीनों अर्थ घटित हो सकते हैं; फिर भी, तीसरा अर्थ अधिक संभावित है।

सूत्र—४१

११. कुछ दार्शनिक ज्ञानवादी थे, कुछ भक्तिवादी और कुछ कर्मवादी (क्रियावादी) भगवान् महावीर इनमें से किसी भी एक को मोक्ष का मार्ग नहीं बतलाते थे। वे ज्ञान, भक्ति और कर्म—इन तीनों की समन्विति को मोक्ष-मार्ग बतलाते थे। उन्होंने साधना-काल में ज्ञान और दर्शन की आराधना के साथ-साथ लम्बी-लम्बी तपस्याएं की थीं। क्योंकि तपस्या चारित्र का एक प्रमुख अंग है। भगवान् बुद्ध ने तपस्या को अस्वीकार किया था। उसकी चर्चा भगवान् महावीर के शिष्यों में भी हुई होगी। संभवतः कुछ शिष्यों ने तपस्या की प्रयोजनीयता में भी सन्देह किया होगा। वैसी परिस्थिति में भगवान् ने यह उपदेश दिया, ऐसा प्रतीत होता है। भगवान् ने बताया—मैंने अज्ञातचर्या (साधना-काल) में घोर तप किया था। मुझे उसका अनुभव है। यह व्यर्थ नहीं है। साधना में उसकी बड़ी उपयोगिता है।

मैं तुम्हें अनुभूत बात कह रहा हूं। तुम अपनी शक्ति को जितना सम्भव हो उतना ज्ञान, दर्शन की आराधना के साथ-साथ तप में लगाओ।

सूत्र—४२

१२. कोई साधक सिंहवृत्ति से निष्क्रमण करता है और उसी वृत्ति से साधना करता है तथा कोई सिंहवृत्ति से निष्क्रमण करता है बाद में शृगाल-वृत्ति वाला हो जाता है। ये दो विकल्प अभिनिष्क्रमण के हैं।

धन्य और शालिभद्र भगवान् महावीर के पास दीक्षित हुए। उन्होंने स्वाध्याय, ध्यान और तपस्या में साधु जीवन बिताया और अन्त में समाधि-मृत्यु का वरण किया। यह उत्थित जीवन का निदर्शन है।

पुण्डरीक और कुण्डरीक दो भाई थे। कुण्डरीक दीक्षित हुआ। वह रुग्ण हो गया। महाराज पुण्डरीक ने उसकी चिकित्सा करवाई। वह स्वस्थ हो गया और साथ-साथ शिथिल भी। उसने साधुत्व को छोड़ दिया। यह उत्थित होने के बाद पतित होने का निदर्शन है।[1]

तीसरा विकल्प गृहवासी का है।

सूत्र—४४

१३. प्रस्तुत सूत्र में साधु-जीवन की स्थिरता के सात सूत्रों का प्रतिपादन किया गया है—

१. आज्ञाप्रियता—आज्ञा शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—ज्ञान और उपदेश।
२. स्नेह-मुक्ति।
३. पूर्व रात्र और अपर रात्र में यतना—रात्रि के प्रथम दो प्रहर पूर्व रात्र और शेष दो प्रहर अपर रात्र कहलाते हैं। रात्रि-जागरण की दो परम्परा रही हैं—१. केवल तीसरे प्रहर में सोना, शेष तीन प्रहर में जागना। २. प्रथम और अन्तिम प्रहर में जागना और बीच के दो प्रहरों में सोना। रात्रि के दो या तीन प्रहरों में जागृत रह कर ध्यान और स्वाध्याय करना, अप्रमत्त रहना 'यतना' है।
४. शील-संप्रेक्षा—महाव्रतों का अनुशीलन, इन्द्रियों का संयम, मन, वाणी और काया की स्थिरता, क्रोध, मान, माया और लोभ का निग्रह—यह शील है। इसका सतत दर्शन 'शील-संप्रेक्षा' है।
५. लोकसार का श्रवण—लोक में सारभूत तत्त्व—ज्ञान, दर्शन और चारित्र का श्रवण।

---

१. णायाधम्मकहाओ, १।१६।

६. कामना का परित्याग ।
७. कलह का परित्याग ।

सूत्र—४५-४६

१४. एक दिन कुछ मुनि भगवान् के पास आकर बोले—"भंते ! आपने कहा था—'तुम अपनी शक्ति को जितना सम्भव हो उतना ज्ञान, दर्शन की आराधना के साथ-साथ तप में लगाओ । वीर्य का गोपन मत करो, पराक्रम करो ।' हमने आपके निर्देशानुसार पराक्रम किया, फिर भी हम कर्म-संस्कार को क्षीण नहीं कर पाये हैं । हम चाहते हैं, आप हमें कोई दूसरा मार्ग भी बताएं ।"

उनकी बात सुनकर भगवान् ने पूछा—"क्या तुम और अधिक पराक्रम कर सकोगे ?"

उन्होंने विनयपूर्वक कहा—"हम कठिन से कठिन काम कर सकते हैं । लौकिक भाषा में हम सिंह के साथ लड़ सकते हैं और साधना की भाषा में शरीर तक को छोड़ सकते हैं ।"

भगवान् ने कहा—"कर्म-संस्कार को क्षीण करने का महत्त्वपूर्ण उपाय है—युद्ध । वह कर्म-शरीर वृत्तियों के माध्यम से तुम्हें सता रहा है, उसके साथ लड़ो—उसकी किसी भी इच्छा को स्वीकार मत करो । यह स्थूल शरीर विषय-सुख का इच्छुक है । इसके साथ लड़ो—इन्द्रियों को इन्द्रिय में और मन को मन में विलीन कर दो ।"

भगवान् ने आत्म-युद्ध का उपदेश देकर युद्ध के योग्य सामग्री का उपदेश दिया । भगवान् ने कहा—"जब तक बुढ़ापा न सताए, रोग न बढ़े, इन्द्रियां हीन न हों, तब तक युद्ध करो । यही उसका उपयुक्त अवसर है । शरीरगत वासना से लड़कर ही कर्म-संस्कारों को क्षीण किया जा सकता है । वास्तव में यही (कर्म-संस्कार) है—उपयुक्त प्रतियोद्धा ।

सूत्र—४७

१५. आत्म-युद्ध कर्म को क्षीण करने का युद्ध है । इस युद्ध के दो मुख्य शस्त्र हैं—परिज्ञा और विवेक—जानो और असहयोग करो । विवेक कई प्रकार का होता है । परिग्रह-विवेक—धन, धान्य, परिवार आदि से पृथक्त्व की अनुभूति । शरीर-विवेक—शरीर से भिन्नता की अनुभूति । भाव-विवेक—निर्ममत्व की अनुभूति । कर्म-विवेक—कर्म से पृथक्त्व की अनुभूति ।

सूत्र—४९

१६. प्रस्तुत सूत्र में 'रूप' शब्द इन्द्रिय-विषयों का तथा शरीर का और 'क्षण' शब्द

हिंसा, असत्य, चौर्य, मैथुन और परिग्रह का सूचक है।

सूत्र—५०

१७. रूप और हिंसा में आसक्त मनुष्य मानता है कि रूप जीवन का सार तत्त्व है और हिंसा सब समस्याओं का समाधान है। जिसकी भाव-धारा बदल जाती है—रूप और हिंसा के प्रति आसक्ति समाप्त हो जाती है, वह मानता है कि रूप क्षण-भंगुर और परिणाम-काल में दुःखद है तथा हिंसा सब समस्याओं का मूल है। विश्व में जितनी समस्याएं हैं, जितने दुःख हैं, वे सब मूलतः हिंसा से उत्पन्न हैं।

सूत्र—५४

१८. जिसका मुख लक्ष्य की ओर होता है, वही विदिशाओं का पार पा सकता है। विदिशाओं का पार पाने के संकल्प-सूत्र हैं—

मैं अज्ञान को छोड़ता हूं, ज्ञान (आत्मानुभव) को स्वीकार करता हूं।

मैं मिथ्यात्व को छोड़ता हूं, सम्यक्त्व को स्वीकार करता हूं।

मैं अचारित्र को छोड़ता हूं, चारित्र को स्वीकार करता हूं।

आसक्ति और रति—ये दोनों लक्ष्य से भटकाने वाले हैं। विदिशाओं का पार पाने वाला इन दोनों के भटकाव से मुक्त होता है।

सूत्र—५५

१९. प्रवृत्ति का मुख्य स्रोत अन्तःकरण है। वह प्रज्ञा से संचालित होता है। उसके नियामक तत्त्व दो हैं--मोह और निर्मोह। मोह से नियंत्रित प्रज्ञा असत्य होती है—धर्म के विपरीत होती है। निर्मोह से नियंत्रित प्रज्ञा सत्य होती है—धर्म के अनुकूल होती है। जिसकी प्रज्ञा सत्य होती है, वह शरीर, वाणी और भाव से ऋजु तथा कथनी और करनी में समान होता है। इस प्रकार की सत्य प्रज्ञा संचालित अन्तःकरण ही हिंसा और विषय से विरत हो सकता है। कोई भी साधक केवल बाह्याचार से हिंसा और विषय से विरत नहीं हो सकता। पूर्ण सत्यप्रज्ञा-युक्त अन्तःकरण से ही वह उनसे विरक्त हो सकता है।

सूत्र—५७

२०. व्यवहार नय की दृष्टि से ज्ञान और आचार में दूरी मानी जाती है। निश्चय नय के अनुसार उनमें कोई दूरी नहीं होती। सम्यग् दर्शन और सम्यक् ज्ञान की परिणति सम्यक् चारित्र है। प्रस्तुत सूत्र का प्रतिपाद्य है—ज्ञान का सार आचार है। आचार-शून्य ज्ञान अन्ततः समीचीन कैसे बना रह सकता है? सूत्रकार को सम्यक् ज्ञान और सम्यग् आचरण की एकता इष्ट है। उनके अनुसार सम्यक् ज्ञान

सम्यग् आचरण होने की सूचना देता है और सम्यग् आचार सम्यक् ज्ञान होने की सूचना देता है। एक को देखकर दसरे को सहज ही देखा जा सकता है।

'सम्म' शब्द का संस्कृत रूप साम्य भी किया जा सकता है। यहां साम्य का अर्थ प्रासंगिक भी है। उसके सन्दर्भ में प्रस्तुत सूत्र का अनुवाद इस प्रकार होगा—

तुम देखो—जो साम्य है, वह साधुत्व है;
जो साधुत्व है, वह साम्य है।

सूत्र—६२

२१. शिष्य ने पूछा, "भंते ! अव्यक्त कौन होता है ?"

आचार्य ने कहा, "कुछ व्यक्ति ज्ञान और अवस्था—दोनों से अव्यक्त होते हैं।"

"कुछ व्यक्ति ज्ञान से अव्यक्त और अवस्था से व्यक्त होते हैं।"

"कुछ व्यक्ति ज्ञान से व्यक्त और अवस्था से अव्यक्त होते हैं।"

"कुछ व्यक्ति ज्ञान और अवस्था—दोनों से व्यक्त होते हैं।"

सोलह वर्ष की अवस्था से ऊपर का व्यक्ति अवस्था से व्यक्त होता है और नवें पूर्व की तीसरी आचार-वस्तु तक को जानने वाला ज्ञान से व्यक्त होता है।

जो मुनि ज्ञान और अवस्था—दोनों से व्यक्त होता है, वह प्रयोजनवश अकेला विहार कर सकना है।

सूत्र—६३

२१. कोई अव्यक्त साधु जा रहा था। एक मनुष्य ने दूसरे से पूछा—यह कौन है ? सामने वाले व्यक्ति ने उत्तर दिया—कोई शूद्र होगा। यह सुनते ही वह कुपित हो गया।

अव्यक्त मनुष्य किसी के शरीर से छू जाने पर भी कुपित हो जाता है। कोई अव्यक्त साधु जा रहा था। एक मजदूर सिर पर भार लिए सामने से आया और उससे टकरा गया। साधु क्रुद्ध होकर बोला—क्या अन्धे हो, देखते नहीं ? मजदूर ने भी उसी भाषा में उत्तर दिया और दोनों में तू-तू, मैं-मैं हो गई।

एक अव्यक्त साधु था। उसने कोई प्रमाद किया। गुरु ने उसे उलाहना दिया। वह बोला—"मैंने ऐसा क्या किया ? इतने साधुओं के बीच में मुझे क्यों तिरस्कृत किया ? क्या दूसरे साधु ऐसा प्रमाद नहीं करते ?"

इस प्रकार वह बोलता रहा, क्रोध के आवेश में अपने प्रमाद को नहीं देख सका।

इस प्रकार के व्यक्ति एकाकी विहार कर साधना का विकास नहीं कर सकते।

सूत्र—६५

२३. बाधाओं को कैसे सहन करना चाहिए, उनके सहन करने या न करने से क्या लाभ-अलाभ होता है ?—इन सारी स्थितियों को जानने वाला ही उनको समाहित कर सकता है।

सूत्र—७२

२४ प्राणी का वध होने पर कर्म का बंध एक जैसा नहीं होता, किन्तु व्यक्ति की कषाय की तीव्रता-मंदता और भावधारा के अनुरूप होता है। काय-स्पर्श से प्राणी का वध हो जाने पर—

१. चरम समाधि-सम्पन्न (शैलेशी दशा प्राप्त योगी) मुनि के कर्म-बन्ध नहीं होता।

२. मन, वचन और काया की प्रवृत्ति वाले वीतराग के दो समय की स्थिति वाला कर्म-बन्ध होता है।

३. (अवीतराग) अप्रमत्त मुनि के जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः आठ मुहूर्त की स्थिति का कर्म-बन्ध होता है।

४. विधिपूर्वक प्रवृत्ति करने वाले प्रमत्त मुनि के जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः आठ वर्ष तक की स्थिति का कर्म-बन्ध होता है। वह वर्तमान जीवन में इसका वेदन कर इसे क्षीण कर देता है।

सूत्र—७७

२५. इसकी तुलना आचार्य कुन्दकुन्द की इस गाथा से होती है—

तिमिरहरा जई दिट्ठी, जणस्स दीवेण णत्थि कादव्वं।
तध सोक्खं सयमादा, विसया किं तत्थ कुव्वंति॥[1]

जिसकी दृष्टि तिमिर को हरण करने वाली है, उसे दीप से क्या प्रयोजन ? आत्मा स्वयं सुख है, फिर विषयों से क्या प्रयोजन ?

सूत्र—७९

२६. शक्तियुक्त भोजन करने से शरीर शक्तिशाली होता है। सशक्त शरीर में मोह को प्रबल होने का अवसर मिलता है। शक्तिहीन भोजन करने से शरीर की शक्ति घट जाती है। वैसे शरीर में मोह भी निर्बल हो जाता है। इसलिए वासना को शांत करने का पहला उपाय निर्बल आहार बतलाया गया है।

---

१. प्रवचनसार, ६७।

सूत्र—८०

२७. अति आहार करने वाले को वासना अधिक सताती है। कम खाना वासना को शांत करना है।

सूत्र—८१

२८. ऊर्ध्वस्थान रात को अवश्य करना चाहिए। आवश्यकतानुसार दिन में भी किया जा सकता है। आवश्यकता के अनुसार एक, दो, तीन या चार प्रहर तक ऊर्ध्वस्थान करना वासना-शमन का असाधारण उपाय है। 'ऊर्ध्वस्थान' शब्द **भगवती सूत्र** (१।९) में आई हुई **उड्ढंजाणू, अहोसिरे** '**ऊर्ध्वजानुः अधःशिरा**' इस मुद्रा का सूचक है। **हठयोग प्रदीपिका** में भी "**ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुः**" (३।७९) और "**अधः शिराश्चोर्ध्वपादः**" (३।८१)—ऐसे प्रयोग मिलते हैं।

ऊर्ध्वस्थान मुख्यतः सर्वांगासन और गौण रूप में शीर्षासन, वृक्षासन आदि का सूचक है। इन आसनों से वासना-केन्द्र शान्त होते हैं। उनके शांत होने से वासना भी शांत होती है।

सूत्र—८२

२९. सुखशीलता की स्थिति में वासना उभरती है। ग्रामानुग्राम विहार श्रम या कष्ट-सहिष्णुता का अभ्यास है। इसलिए वह वासना-मुक्ति का सहज उपाय है।

ग्रामानुग्राम विहार से 'गमन-योग' सहज ही सध जाता है।

ग्रामानुग्राम विहार करने वाला परिचय के बंधन से भी सहज ही मुक्ति पा लेता है।

सूत्र—८३

३०. वासना-शमन के लिए एक उपवास से लेकर दीर्घकालीन तप अथवा आहार का जीवन-पर्यन्त परित्याग भी विहित है।

सूत्र—८४

३१. वासना को वातावरण उत्तेजित करता है, किन्तु उसे सर्वाधिक उत्तेजना देता है—संकल्प। इसलिए काम को संकल्प से उत्पन्न कहा जाता है।

"काम ! जानामि ते मूलं, संकल्पात् किल जायसे।
संकल्पं न करिष्यामि, तेन मे न भविष्यसि।।

काम ! मैं तुम्हारे मूल को जानता हूं। तू संकल्प से उत्पन्न होता है। मैं संकल्प नहीं करूंगा। फलतः तू मेरे मन में उत्पन्न नहीं हो सकेगा।

७९ से ८४ तक के सूत्रों में वासना-शमन के ६ उपाय बतलाए हैं। उनमें तीन आहार से सम्बन्धित तथा ऊर्ध्व-स्थान शारीरिक क्रिया, ग्रामानुग्राम विहार श्रम और संकल्प-त्याग मानसिक स्थिरता से सम्बन्धित हैं। ये सभी उपाय हैं, किन्तु जिस व्यक्ति के लिए जो अनुकूल पड़े, उसके लिए वही सर्वाधिक अभ्यास करने योग्य है।

चूर्णिकार के मतानुसार यह मोह-चिकित्सा अबहुश्रुत के लिए है। बहुश्रुत की मोह-चिकित्सा उसे स्वाध्याय—अध्ययन-अध्यापन आदि में संलग्न कर करनी चाहिए।

सूत्र—८५

३२. कुछ लोग पहले कष्ट झेलते हैं, तब उन्हें इन्द्रिय-विषय उपलब्ध होते हैं। और कुछ लोग इन्द्रिय-विषयों को पहले प्राप्त हो जाते हैं, फिर कष्ट झेलते हैं। विषय सेवन से पहले या पीछे दण्ड जुड़ा हुआ है।

सूत्र—८९

३३. द्रह चार प्रकार के होते हैं—

१. जिसमें से स्रोत निकलता है, किन्तु मिलता नहीं।

२. जिसमें स्रोत मिलता है, निकलता नहीं।

३ जिसमें से स्रोत मिलता भी है और निकलता भी है।

४. जिसमें से न कोई स्रोत निकलता है और न कोई मिलता है।

द्रह के रूपक द्वारा आचार्य का वर्णन किया गया है। आचार्य आचार्योचित गुणों से प्रतिपूर्ण, समभाव की भूमिका में स्थित, उपशांत मोहवाला, सब जीवों का संरक्षण करता हुआ, श्रुत ज्ञानरूपी स्रोत के मध्य में स्थित होता है—श्रुत को लेता भी है और देता भी है।

सूत्र—९०

३४. चूर्णिकार के अनुसार चौदह पूर्वों को मानने वाला प्रज्ञावान् तथा अवधिज्ञान और मनःपर्यव ज्ञान का अधिकारी 'प्रबुद्ध' कहलाता है। वर्तमान काल में प्राप्त शास्त्र ज्ञान का पारगामी विद्वान् भी 'प्रबुद्ध' कहलाता है।

सूत्र—९१

३५. 'पश्यत' का प्रयोग दर्शन या चिन्तन की स्वतंत्रता का सूचक है। सूत्रकार कहते हैं—"मैंने कहा, इसलिए तू स्वीकार मत कर, किन्तु अपनी कुशाग्री बुद्धि व तटस्थ भाव से इस विषय को देख।"

सूत्र—९३

३६. ज्ञेय विषय तीन प्रकार के होते हैं—

१. सुखाधिगम—जो सरलता से जाना जा सके।

२. दुरधिगम—जो कठिनाई से जाना जा सके।

३. अनधिगम—जो नहीं जाना जा सके।

दुरधिगम अर्थ के प्रति विचिकित्सा या शंका उत्पन्न होती है।

समाधि का अर्थ मन की एकाग्रता, चित्त का स्वास्थ्य या सम्यग्-दर्शन है।

सूत्र—९४

३७. खिन्नता की स्थिति में जो मनःस्थिति निर्मित होती है, उसका वर्णन प्रज्ञा-परीषह और अज्ञान-परीषह में मिलता है—

से नूणं मए पुव्वं कम्माणाणफला कडा।
जेणाहं नाभिजाणामि पुट्ठो केणइ कण्हुई॥
अह पच्छा उइज्जन्ति कम्माणाणफला कडा।
एवमस्सासि अप्पाणं नच्चा कम्म-विवागयं॥
निरट्ठगम्मि विरओ मेहुणाओ सुसंवुडो।
जो सक्खं नाभिजाणामि धम्मं कल्लाणपावगं॥
तवोवहाणमादाय पडिमं पडिवज्जओ।
एवं पि विहरओ मे छउमं न नियट्टई॥

(उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २, श्लोक ४०-४३)

'निश्चय ही मैंने पूर्वकाल में अज्ञानरूप-फल देने वाले कर्म किए हैं। उन्हीं के कारण मैं किसी के कुछ पूछे जाने पर भी कुछ नहीं जानता—उत्तर देना नहीं जानता।

'पहले किए हुए अज्ञानरूप-फल देने वाले कर्म पकने के पश्चात् उदय में आते हैं—इस प्रकार कर्म के विपाक को जानकर मुनि आत्मा को आश्वासन दे।

'मैं मैथुन से निवृत्त हुआ, इन्द्रिय और मन का मैंने संवरण किया—यह सब निरर्थक है। क्योंकि धर्म कल्याणकारी है या पापकारी—यह मैं साक्षात् नहीं जानता।

'तपस्या और उपधान को स्वीकार करता हूं, प्रतिमा का पालन करता हूं—इस प्रकार विशेष चर्या से विहरण करने पर भी मेरा छद्म (ज्ञानावरणादि कर्म) निर्वतित नहीं हो रहा है।' —ऐसा चिन्तन न करे।

यह प्रथम दुःख-शय्या से तुलनीय है—

'चत्तारि दुहसेज्जाओ पण्णत्ताओ, तंजहा—

तत्थ खलु इमा पढमा दुहसेज्जा—से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए णिग्गंथे पावयणे संकिते कंखिते वितिगिच्छिते भेयसमावण्णे कलुससमावण्णे णिग्गंथं पावयणं णो सद्दहति णो पत्तियति णो रोएइ, णिग्गंथं पावतणं असद्दहमाणे अपत्तियमाणे अरोएमाणे मणं उच्चावयं णियच्छति, विणिघातमावज्जति—पढमा दुहसेज्जा।

(ठाणं ४।४५०)।

खिन्नता को मिटाने का आलम्बन सूत्र इससे अगला है।

सूत्र—९६

३८. सब मुनि प्रत्यक्षदर्शी नहीं होते। सबका ज्ञान भी समान नहीं होता और भाव-धारा भी समान नहीं होती। परोक्षदर्शी किसी व्यवहार का अपनी मध्यस्थ दृष्टि से निर्णय करता है, वह व्यवहार वास्तव में सम्यग् है या असम्यग्, इसका निर्णय वह नहीं कर सकता। इस स्थिति में सूत्रकार ने यह बताया कि जिसका अध्यवसाय शुद्ध है, जिसकी दृष्टि मध्यस्थ है, वह व्यवहार नय से किसी व्यवहार की स्थापना करता है। वह व्यवहार उसके लिए सम्यग् है। इसी प्रकार उसके द्वारा स्थापित असम्यग् व्यवहार उसके लिए असम्यग् है, भले फिर वह वास्तव में सम्यग् हो या असम्यग्।

मध्यस्थ भाव से सम्यग् व्यवहार करने वाला श्रमण सत्य का आराधक होता है। यही तथ्य प्रस्तुत सूत्र में वर्णित है। पांच व्यवहारों के वर्णन से इसकी पूर्ण संगति है। (देखें, ठाणं, ५।१२४)।

सूत्र—९९

३९. गति का तात्पर्य है—ज्ञान और दर्शन की स्थिरता, चारित्र की निष्प्रकम्पता, श्रुतज्ञान की योग्यता आदि-आदि।

सूत्र—१०१

४०. भगवान् महावीर आत्मतुलावाद के प्ररूपक थे। प्रस्तुत सूत्र में आत्मा की एकता का प्रतिपादन है। इसका प्रयोजन दो भिन्न आत्माओं की अनुभूति की एकरूपता सिद्ध करना है। 'जिसे तू हन्तव्य मानता है, वह तू ही है'—इसका तात्पर्य है—दूसरे के द्वारा आहत होने पर जैसी अनुभूति तुझे होती है, वैसी ही अनुभूति उसे होती है, जिसे तू आहत करता है।

सूत्र—१०२

४१. ऋजु का अर्थ सरल, संयमी या संयम में तत्पर है। यह इस आशय की सूचना देता है कि ज्ञानी पुरुष ऋजुता व संयम भावनापूर्वक हिंसा से बचे, छलना या भय के कारण नहीं।

सूत्र—१०३

४२. तुमने जिस रूप में दूसरे जीव को वेदना दी है, उसी रूप में तुम्हें वेदना भुगतनी होगी—अनुसंवेदन का यह अर्थ भी किया जा सकता है।

सूत्र—१०४

४३. जो जानता है वह आत्मा है। जिसके द्वारा जानता है, वह भी आत्मा है। इन दो सूत्रों में आत्मा की दो परिभाषाएं की गई हैं। पहली परिभाषा द्रव्याश्रित है और दूसरी गुणाश्रित। चेतन द्रव्य है। चैतन्य उसका गुण है। चेतन ज्ञाता है। चैतन्य ज्ञान है। ज्ञानी और ज्ञान दोनों आत्मा हैं। चेतन प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु चैतन्य प्रत्यक्ष होता है। कमरे के भीतर बैठा आदमी सूर्य के प्रकाश और किरणों को देखकर सूर्य के अस्तित्व को जान लेता है। वैसे ही ज्ञान की क्रिया से ज्ञानी जान लिया जाता है। हम ज्ञेय को जानते हैं। ज्ञेय को ज्ञान से जानते हैं, इसलिए ज्ञेय को जानने के द्वारा ज्ञान को जान लेते हैं। ज्ञान ज्ञानी का आलोक है। इसलिए ज्ञान को जानने के द्वारा हम ज्ञानी को जान लेते हैं।

आत्मा द्रव्य है और ज्ञान गुण है। द्रव्य और गुण न सर्वथा भिन्न होते हैं, और न सर्वथा अभिन्न। गुण द्रव्य में ही होता है, इसलिए वे अभिन्न भी हैं। आधार और आधेय की दृष्टि से वे भिन्न भी हैं।

ज्ञान आत्मा का लक्षण है। जहां आत्मा है, वहां ज्ञान है और जहां ज्ञान है, वहां आत्मा है। इस दृष्टि से आत्मा और ज्ञाता की अभिन्नता बतलाई गई है। आत्मा ज्ञान के द्वारा जानती है, इस दृष्टि से ज्ञान भी आत्मा है।

प्रश्न होता है—यदि आत्मा और ज्ञान को अभिन्न माना जाए, तो ज्ञान की भांति एक आत्मा भी अनेक प्रकार की हो जाएगी। इस प्रश्न को ध्यान में रखकर बताया गया—ज्ञान के अनेक परिणमन होते हैं। आत्मा जिस समय ज्ञान के जिस परिणमन से परिणत होती है, उसी के आधार पर आत्मा का व्यपदेश (व्यवहार या नामकरण) होता है। श्रोत्रेन्द्रिय के ज्ञान में परिणत आत्मा श्रोत्रेन्द्रिय कहलाती है। मन के ज्ञान में परिणत आत्मा मन कहलाती है। घट, पट, रथ, अश्व आदि ज्ञेयों में परिणत ज्ञान के आधार पर आत्मा को घटज्ञानी, पटज्ञानी, रथज्ञानी, अश्वज्ञानी कहा जा सकता है। प्रस्तुत सूत्र भगवती (६।१७४)—

"जीवे णं भन्ते जीवे ? जीवे जीवे ?"

"गोयमा ! जीवे ताव नियमा जीवे, जीवे वि नियमा जीवे ।"

"भन्ते ! आत्मा जीव है या चैतन्य जीव है ?"

भगवान्—"गौतम ! आत्मा नियमतः जीव है और चैतन्य भी नियमतः जीव है।"

—इस सूत्र से तुलनीय है।

सूत्र—१११

४४. स्वावलम्वी दूसरों पर निर्भर नहीं होता। वह अपने-आप में और अपनी उपलब्धियों में ही संतुष्ट रहता है। देखें, उत्तराध्ययन सूत्र, २९।३४।

सूत्र—११३

४५. धर्म और दर्शन के क्षेत्र में परीक्षा मान्य रही है। किसी भी प्रवाद (दर्शन) को स्वीकार करने वाला दूसरे प्रवादों की परीक्षा करना चाहता है। भगवान् महावीर ने इस परीक्षा की स्वीकृति दी। उन्होंने कहा—"मुनि अपने प्रवाद को जानकर दूसरे प्रवादों को जाने, उसकी परीक्षा करे। किन्तु उसके पीछे राग-द्वेष का दृष्टिकोण नहीं होना चाहिए। अपने प्रवाद के प्रति राग और दूसरे प्रवादों के प्रति द्वेष नहीं होना चाहिए। अपने प्रवाद की विशेषता और दूसरे प्रवादों की हीनता दिखाने का मनोभाव नहीं होना चाहिए। परीक्षा-काल में पूर्ण मध्यस्थ भाव और समभाव होना चाहिए।"

छट्ठं अज्झयणं

धुयं

षष्ठ अध्ययन

धुत

छट्ठं अज्झयणं

धुयं

षष्ठ अध्ययन

धुत

पढमो उद्देसो

नाणस्स निरूवण-पदं

१. ओबुज्झमाणे इह माणवेसु, आघाइ से णरे।

२. जस्सिमाओ जाईओ सव्वओ सुपडिलेहियाओ भवंति, अक्खाइ से णाणमणेलिसं।

३. से किट्टति तेसिं समुट्ठियाणं णिक्खित्तदंडाणं समाहियाणं पण्णाणमंताणं इह मुत्तिमग्गं।

४. एवं पेगे महावीरा विप्परक्कमंति।

अणत्तपण्णाणं अवसाद-पदं

५. पासह एगेवसीयमाणे अणत्तपण्णे।

६. से बेमि—से जहा वि कुम्मे हरए विणिविट्ठचित्ते, पच्छन्न-पलासे, उम्मग्गं से णो लहइ।

७. भंजगा इव सन्निवेसं णो चयंति, एवं पेगे—
अणेगरूवेहिं कुलेहिं जाया,
रूवेहिं सत्ता कलुणं थणंति,
णियाणओ ते ण लभंति मोक्खं।

प्रथम उद्देशक

ज्ञान का आख्यान

१. सम्बुद्ध पुरुष मनुष्यों के बीच में [ज्ञान का] आख्यान करता है।[1]

२. जिसे ये जीव-जातियां सब दिशाओं में भली-भांति ज्ञात होती है, वही पुरुष असाधारण ज्ञान का आख्यान करता है।

३. जो मनुष्य [ज्ञान-प्राप्ति के लिए] उद्यत हैं, मन, वाणी और शरीर से संयत हैं, जिनका मन एकाग्र है और जो प्रज्ञावान् हैं, उनके लिए सम्बुद्ध पुरुष [मुक्ति-मार्ग का] आख्यान करता है।

४. कुछ महावीर पुरुष इस प्रकार के ज्ञान के आख्यान को सुनकर [संयम में] विशेष पराक्रम करते हैं।

अनात्म-प्रज्ञ का अवसाद

५. तुम देखो—जो आत्म-प्रज्ञा शून्य हैं, वे [संयम में] अवसाद को प्राप्त हो रहे हैं।

६. मैं कहता हूं : जैसे—एक कछुआ है [और एक द्रह है]। कछुए का चित्त द्रह में लगा हुआ है। वह द्रह सेवाल और पद्म के पत्तों से आच्छन्न है। वह कछुआ [मुक्त आकाश को देखने के लिए] विवर को प्राप्त नहीं हो रहा है।[2]

७. जैसे वृक्ष [सर्दी, गर्मी, आंधी आदि कष्टों को सहते हुए भी] अपने स्थान को नहीं छोड़ते, वैसे ही कुछ लोग [गृहवास को नहीं छोड़ते]।
कुछ लोग दरिद्र कुल में उत्पन्न हैं और कुछ सम्पन्न कुल में। वे रूपादि विषयों में आसक्त होकर [नाना प्रकार के कष्टों के आने पर] करुण विलाप करते है, [फिर भी गृहवास को नहीं छोड़ते]। ऐसे व्यक्ति [करुण विलाप के] हेतुभूत दुःख से मुक्त नहीं हो पाते।

८. अह पास तेहिं-तेहिं कुलेहिं आयत्ताए जाया—

गंडी अदुवा कोढी, रायंसी अवमारियं।
काणियं झिमियं चेव, कुणियं खुज्जियं तहा।।
उदरिं पास मूयं च, सूणिअं च गिलासिणिं।
वेवइं पीढसप्पिं च, सिलिवयं महुमेहणिं ।।
सोलस एते रोगा, अक्खाया अणुपुव्वसो।
अह णं फुसंति आयंका, फासा य असमंजसा।।
मरणं तेसिं संपेहाए, उववायं चयणं च णच्चा।
परिपागं च संपेहाए, तं सुणेह जहा-तहा।।

९. संति पाणा अंधा तमंसि वियाहिया।

१०. तामेव सइं असइं अतिअच्च उच्चावयफासे पडिसंवेदेंति।

११. बुद्धेहिं एयं पवेदितं।

पाणि-किलेस-पदं

१२. संति पाणा वासगा, रसगा, उदए उदयचरा, आगासगामिणो।

८. तू देख—नाना कुलों में आत्म-भाव (अपने-अपने कर्मोदय) से उत्पन्न व्यक्ति [रोग-ग्रस्त हो जाते हैं]।

१. गण्डमाला
२. कोढ़
३. राजयक्ष्मा
४. अपस्मार (मृगी या मूर्च्छा)
५. काणत्व
६. जड़ता—अवयवों का जड़ होना
७. हस्त-विकलता (कूणित्व)
८. कुबड़ापन
९. उदर रोग
१०. गूंगापन
११. शोथ
१२. भस्मक रोग
१३. कम्पन वात
१४. पीठसर्पी—पंगुता
१५. श्लीपद—हाथीपगा
१६. मधुमेह

—ये सोलह रोग क्रमशः कहे गए हैं। कभी-कभी आतंक (सद्योघाती रोग) और अनिष्ट स्पर्श प्राप्त होते हैं। उन [रोग और आतंक से पीडित] मनुष्यों की मृत्यु का पर्यालोचन कर, उपपात और च्यवन को जानकर तथा कर्म के विपाक का पर्यालोचन कर उसके यथार्थ रूप को सुनो।

९. अन्धकार में होने वाले प्राणी अन्ध कहलाते हैं।[1]

१०. प्राणी उसी (क्लेश-पूर्ण अवस्था) को एक या अनेक बार प्राप्त कर तीव्र और मंद स्पर्शों का प्रतिसंवेदन करते है।

११. तीर्थंकरों ने इस (तथ्य) का प्रतिपादन किया है।

प्राणी को प्राणी द्वारा क्लेश

१२. [अनेक प्रकार के] प्राणी होते हैं—वर्षज—वर्षा में उत्पन्न होने वाले मेंढक आदि, रसज—रस में उत्पन्न होने वाले कृमि आदि, जल में होने वाले जलचर जीव, आकाशगामी—पक्षी।

१३. पाणा पाणे किलेसंति।

१४. पास लोए महब्भयं ।

तिगिच्छापसंगे अहिंसा-पदं

१५. बहुदुक्खा हु जंतवो ।

१६. सत्ता कामेहिं माणवा ।

१७. अबलेण वहं गच्छंति, सरीरेण पभंगुरेण ।

१८. अट्टे से बहुदुक्खे, इति बाले पगब्भइ ।

१९. एते रोगे बहू णच्चा, आउरा परितावए ।

२०. णालं पास ।

२१. अलं तवेएहिं ।

२२. एयं पास मुणी ! महब्भयं ।

१३. प्राणी प्राणियों को कष्ट देते हैं—प्रहार से लेकर प्राण-वियोजन तक करते हैं।[१]

१४. तू देख—लोक में महान् भय है।[१]

चिकित्सा-प्रसंग में अहिंसा

१५. जीवों के नाना प्रकार के दुःख होते हैं।[१]

१६. मनुष्य कामनाओं में आसक्त होते हैं।[१]

१७. [जीवन की आशंसा रखने वाले] इस निःसार और क्षणभंगुर शरीर के लिए जीवों के वध की इच्छा करते हैं।+

१८. वेदना से पीडित मनुष्य बहुत दुःख वाला होता है। इसलिए वह अज्ञानी [प्राणियों को क्लेश देता हुआ] धृष्ट हो जाता है×।[१]

१९. इन नाना प्रकार के रोगों को उत्पन्न हुआ जानकर आतुर मनुष्य [चिकित्सा के लिए दूसरे जीवों को] परिताप देते हैं।

२०. तू देख! [ये चिकित्सा-विधियां रोग-हनन के लिए] पर्याप्त नहीं हैं।

२१. [जीवों को क्लेश पहुंचाने वाली] इन (चिकित्सा-विधियों) का तू परित्याग कर।

२२. मुने! तू देख! यह (हिंसामूलक चिकित्सा) महान् भय उत्पन्न करने वाली है।

+ यहां 'गच्छन्ति' क्रियापद का अर्थ 'इच्छन्ति' है। चूर्णिकार ने गच्छन्ति के एकार्थक क्रियापदों का निर्देश किया है—'कप्पंति, पत्थंति, गच्छंति एगट्ठा।' (चूर्णि, पृ० २०५)।

× चूर्णि और टीका में 'पकुव्वइ' पाठ ही व्याख्यात है। इसके आधार पर प्रस्तुत पाठ का अनुवाद इस प्रकार होगा—
वेदना से पीडित मनुष्य बहुत दुःखवाला होता है। वह अज्ञानी [वेदना-शमन के लिए] प्राणियों को कष्ट देता है।
किन्तु उत्तराध्ययन सूत्र ५।७ में 'इति बाले पगब्भई' पाठ है। चूर्णिकार ने यहां भी 'पगब्भई' को पाठान्तर स्वीकार किया है। अर्थ की दृष्टि से भी यह अधिक भावपूर्ण और उपयुक्त लगता है।

२३. णातिवाएज्ज कंचणं।

सयणपरिच्चायधुत-पदं

२४. आयाण भो ! सुस्सूस भो ! धूयवादं पवेदइस्सामि।

२५. इह खलु अत्तत्ताए तेहिं-तेहिं कुलेहिं अभिसेएण अभिसंभूता, अभिसंजाता, अभिणिव्वट्टा, अभिसंवुड्ढा, अभिसंबुद्धा अभिणिक्खंता, अणुपुव्वेण महामुणी।

२६. तं परक्कमंतं परिदेवमाणा, "मा णे चयाहि" इति ते वदंति।
छंदोवणीया अज्झोववन्ना, अक्कंदकारी जणगा रुवंति॥

२७. अतारिसे मुणी, णो ओहंतरए, जणगा जेण विप्पजढा।

२८. सरणं तत्थ णो समेति। किह णाम से तत्थ रमति ?

२९. एयं णाणं सया समणुवासिज्जासि।

—त्ति बेमि।

२३. मुनि [चिकित्सा के निमित्त भी] किसी प्राणी का वध न करे।

स्वजन-परित्याग धुत

२४. मुने ! तू जान ! तू सुनने की इच्छा कर ! मैं धुतवाद[×] का निरूपण करूंगा।

२५. मनुष्य नाना कुलों में आत्म-भाव (अपने-अपने कर्मोदय) से प्रेरित हो शुक्र-शोणित के निषेक से उत्पन्न होते हैं, अर्बुद और पेशी का निर्माण करते हैं, अंग-उपांग के रूप में विकसित होते हैं, जन्म प्राप्त कर बढ़ते हैं, सम्बोधि को प्राप्त होते हैं और सम्बुद्ध होकर अभिनिष्क्रमण करते हैं। इस क्रम से महामुनि बनते हैं।"

२६. वह [संबुद्ध होकर संयम में] गतिशील होता है, तब उसके माता-पिता विलाप करते हुए कहते हैं—"तुम हमें मत छोड़ो। हम परस्पर एक-दूसरे की इच्छा का आदर करते हैं, तुम्हारे प्रति हमारा ममत्व है।" इस प्रकार आक्रंद करते हुए वे रुदन करते हैं।

२७. [वे रुदन करते हुए कहते हैं—] "ऐसा व्यक्ति न मुनि हो सकता है और न संसार-सागर का पार पा सकता, जिसने माता-पिता को छोड़ दिया है।"

२८. [वह पारिवारिक-जन का विलाप सुनकर] उसकी शरण में नहीं जाता। ज्ञानी पुरुष गृहवास में कैसे रमण करेगा ?

२९. मुनि इस ज्ञान का सम्यग् अनुपालन करे।

—ऐसा मैं कहता हूं।

× धुत का अर्थ है—प्रकम्पित और पृथक्कृत। प्रस्तुत अध्ययन के पांच उद्देशक हैं। प्रत्येक उद्देशक में एक-एक धुत प्रतिपादित है।
प्रथम—स्वजन-परित्याग
दूसरा—कर्म-परित्याग
तीसरा—उपकरण और शरीर-परित्याग
चौथा—ऋद्धि, रस और सुख—इन गौरव-त्रयों का परित्याग।
पांचवां—उपसर्ग और सम्मान का परित्याग।

बीओ उद्देसो

कम्मपरिच्चायधुत-पदं

३०. आतुरं लोयमायाए, चइत्ता पुव्वसंजोगं हिच्चा उवसमं वसित्ता बंभचेरम्मि वसु वा अणुवसु वा जाणित्तु धम्मं अहा-तहा, अहेगे तमचाइ कुसीला।

३१. वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं विउसिज्जा।

३२. अणुपुव्वेण अणहियासेमाणा परीसहे दुरहियासए।

३३. कामे ममायमाणस्स इयाणिं वा मुहुत्ते वा अपरिमाणाए भेदे।

३४. एवं से अंतराइएहिं कामेहिं आकेवलिएहिं अवितिण्णा चेए।

३५. अहेगे धम्म मादाय आयाणप्पभिइं सुपणिहिए चरे।

३६. अपलीयमाणे दढे।

३७. सव्वं गेहिं परिण्णाय, एस पणए महामुणी।

३८. अइअच्च सव्वतो संगं "ण महं अत्थित्ति इति एगोहमंसि।"

द्वितीय उद्देशक

कर्म-परित्याग धुत

३०. [स्नेह, काम आदि से] आतुर लोक को जान, पूर्व संयोग को छोड़, उपशम का अभ्यास कर, ब्रह्मचर्य (चारित्र अथवा गुरुकुलवास) में वास कर, पूर्ण या अपूर्ण धर्म को यथार्थ रूप में जानकर भी कुछेक कुशील मुनि चारित्र-धर्म का पालन करने में समर्थ नहीं होते।

३१. वे वस्त्र, पात्र, कम्बल और पादप्रोंछन (रजोहरण) को छोड़ देते हैं।

३२. उत्तरोत्तर आने वाले दुःसह परीषहों को नहीं सह सकने के कारण [वे मुनि-धर्म को छोड़ देते हैं]।[८]

३३. वह काम-मूर्छा से [मुनि-धर्म को छोड़ता है]; उसी क्षण, मुहूर्त भर में अथवा किसी भी समय उसकी मृत्यु हो सकती है।[९]

३४. इस प्रकार वे विघ्न और द्वंद्वयुक्त कामों का पार नहीं पा सकते।[१०]

३५. कोई व्यक्ति [मुनि] धर्म में दीक्षित हो, इन्द्रिय और मन को समाहित कर विचरण करता है।

३६. वह अनासक्त और दृढ़[४] होकर [धर्म का आचरण करता है]।

३७. समग्र आसक्ति को छोड़कर [धर्म के प्रति] समर्पित होने वाला महामुनि होता है।

३८. वह सब प्रकार से संग का परित्याग कर [यह भावना करे—] 'मेरा कोई नहीं है, इसलिए मैं अकेला हूं।'

---

४ जिसकी धृति और शरीर का संहनन सुदृढ़ होता है, वह आरोपित भार को पार पहुंचा देता है।

३९. जयमाणे एत्थ विरते अणगारे सव्वओ मुंडे रीयंते।

४०. जे अचेले परिवुसिए संचिक्खति ओमोयरियाए।

४१. से अक्कुट्ठे व हए व लूसिए वा।

४२. पलियं पगंथे अदुवा पगंथे।

४३. अतहेहिं सद्द-फासेहिं, इति संखाए।

४४. एगतरे अण्णयरे अभिण्णाय, तितिक्खमाणे परिव्वए।

४५. जे य हिरी, जे य अहिरीमणा।

४६. चिच्चा सव्वं विसोत्तियं, फासे फासे समियदंसणे।

४७. एते भो ! णगिणा वुत्ता, जे लोगंसि अणागमणधम्मिणो।

३९. वह संयम-पूर्वक चर्या करने वाला, विरत, गृहत्यागी, सब प्रकार से मुण्ड[1] और अनियत वास वाला होता है।

४०. जो मुनि निर्वस्त्र रहता है, वह अवमौदर्य तप का अनुशीलन करता है।[11]

४१. कोई मनुष्य उसे गाली देता है, पीटता है या अंग-भंग करता है।

४२. [कोई मनुष्य] कर्म की [स्मृति दिलाकर] गाली देता है अथवा कोई [असभ्य शब्दों का प्रयोग करके] गाली देता है।[12]

४३. कोई तथ्य-हीन [चोर आदि] शब्दों द्वारा [सम्बोधित करता है] और हाथ-पैर आदि काटने का मिथ्या आरोप लगाता है—इन [सब]को सम्यक् चिन्तन के द्वारा [सहन करे]।[13]

४४. एकजातीय या भिन्नजातीय [परीषहों को उत्पन्न हुआ] जानकर मुनि उन्हें सहन करता हुआ परिव्रजन करे।

४५. मुनि लज्जाकारी (जैसे—अचेल परीषह) और अलज्जाकारी (जैसे—शीत परीषह) [दोनों प्रकार के परीषहों को सहन करता हुआ परिव्रजन करे]।

४६. सम्यग्-दर्शन-सम्पन्न मुनि सब प्रकार की चैतसिक चंचलता को छोड़कर स्पर्शों को समभाव से सहन करे।

४७. धर्म-क्षेत्र में उन्हें नग्न कहा गया है, जो दीक्षित होकर पुनः गृहवास में नहीं आते हैं।[14]

---

१ स्थानांग सूत्र में दस प्रकार के मुण्ड बतलाये गये हैं—

१. क्रोध-मुण्ड—क्रोध का अपनयन करने वाला।
२. मान-मुण्ड—मान का अपनयन करने वाला।
३. माया-मुण्ड—माया का अपनयन करने वाला।
४. लोभ-मुण्ड—लोभ का अपनयन करने वाला।
५. शिर-मुण्ड—शिर के केशों का लुंचन करने वाला।
६. श्रोत्रेन्द्रिय-मुण्ड—श्रोत्रेन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।
७. चक्षुरिन्द्रिय-मुण्ड—चक्षुरिन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।
८. घ्राणेन्द्रिय-मुण्ड—घ्राणेन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।
९. रसनेन्द्रिय-मुण्ड—रसनेन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।
१०. स्पर्शनेन्द्रिय-मुण्ड—स्पर्शनेन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।

४८. आणाए मामगं धम्मं।

४९. एस उत्तरवादे, इह माणवाणं वियाहिते।

५०. एत्थोवरए तं झोसमाणे।

५१. आयाणिज्जं परिण्णाय, परियाएण विगिंचइ।

५२. इहमेगेसिं एगचरिया होति।

५३. तत्थियराइयरेहिं कुलेहिं सुद्धेसणाए सव्वेसणाए।

५४. से मेहावी परिव्वए।

५५. सुब्भि अदुवा दुब्भि।

५६. अदुवा तत्थ भेरवा।

५७. पाणा पाणे किलेसंति।

५८. ते फासे पुट्ठो धीरो अहियासेज्जासि।

—त्ति बेमि।

४८. वे मेरे धर्म को जानकर—मेरी आज्ञा को स्वीकार कर [आजीवन मुनि-धर्म का पालन करते हैं]।[१०,१५]

४९. यह उत्तरवाद—उत्कृष्ट सिद्धान्त—मनुष्यों के लिए निरूपित किया गया है।[१६]

५०. विषय से उपरत साधक उत्तरवाद का आसेवन करता है।

५१. वह कर्म-बंध का विवेक कर [संयम-] पर्याय (मुनि-जीवन) के द्वारा उसका विसर्जन कर देता है।

५२. कुछ साधु अकेले रहकर साधना करते हैं—एकाकी विहार की प्रतिमा को स्वीकार करते हैं।

५३. वे नाना प्रकार के कुलों में शुद्ध एषणा और सर्वेषणा के द्वारा [परिव्रजन करते हैं]।[१७]

५४. वह मेधावी [ग्राम आदि में] परिव्रजन करे।

५५. सुगन्ध या दुर्गन्ध-युक्त [—जैसा भी आहार मिले, उसे समभाव से खाए]।

५६. अथवा एकाकी विहार वाले साधना-काल में भैरव [शब्दों को सुन या भैरव रूपों को देखकर भयभीत न बने]।

५७. हिंस्र प्राणी प्राणों को क्लेश पहुंचाए, [उनसे विचलित न हो।]

५८. इन स्पर्शों (परीषहों) के उत्पन्न होने पर धीर मुनि उन्हें सहन करे।

—ऐसा मैं कहता हूं।

तइओ उद्देसो

उवगरणपरिच्चायधुत-पदं

५९. एयं खु मुणी आयाणं सया सुअक्खायधम्मे विधूतकप्पे णिज्झोसइत्ता।

६०. जे अचेले परिवुसिए, तस्स णं भिक्खुस्स णो एवं भवइ—परिजुण्णे मे वत्थे वत्थं जाइस्सामि, सुत्तं जाइस्सामि, सूइं जाइस्सामि, संधिस्सामि, सीवीस्सामि, उक्कसिस्सामि, वोक्कसिस्सामि, परिहिस्सामि, पाउणिस्सामि।

६१. अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति, सीयफासा फुसंति, तेउफासा फुसंति, दंसमसगफासा फुसंति।

६२. एगयरे अण्णयरे विरूवरूवे फासे अहियासेति अचेले।

६३. लाघवं आगममाणे।

६४. तवे से अभिसमण्णागए भवति।

६५. जहेयं भगवता पवेदितं तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया।

तृतीय उद्देशक

उपकरण-परित्याग धुत

५९. सदा सु-आख्यात धर्मा† वाला तथा धुत-आचार सेवी मुनि आदान‡ (वस्त्र) का परित्याग कर देता है।

६०. जो मुनि निर्वस्त्र रहता है, उसके मन में यह [विकल्प] उत्पन्न नहीं होता, 'मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया है; इसलिए मैं वस्त्र की याचना करूंगा। फटे वस्त्र को सांधने के लिए धागे की याचना करूंगा, सूई की याचना करूंगा, उसे सांधूंगा, उसे सीऊंगा। छोटा है, इसलिए उसे जोड़कर बड़ा बनाऊंगा, बड़ा है; इसलिए उसे काट कर छोटा बनाऊंगा, उसे पहनूंगा और ओढ़ूंगा।

६१. अथवा अचेल-अवस्था में रहते हुए उसे बार-बार तृण, सर्दी, गर्मी और दंशमशक के स्पर्श पीडित करते हैं।

६२. अचेल मुनि एकजातीय, अनेकजातीय—नाना प्रकार के स्पर्शों को सहन करता है।

६३. [अचेल मुनि] लाघव को प्राप्त होता है।

६४. अचेल मुनि के [उपकरण-अवमोदर्य तथा काय-क्लेश] तप होता है।

६५. भगवान् ने जैसे अचेलत्व का प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप में जानकर, सब प्रकार से, सर्वात्मना समत्व का सेवन करे—किसी की अवज्ञा न करे।[७]

---

† आख्यात का शाब्दिक अर्थ है—सम्यक् प्रकार से कहा गया। भगवान ने समता-धर्म का प्रतिपादन किया। वह नैर्याणिक—निर्वाण तक पहुंचाने वाला, शुद्ध—अनेकान्त-दृष्टिकोण से युक्त, संशुद्ध—राग, द्वेष और मोह रहित तथा प्रत्युत्पन्न—वर्तमान काल के आश्रव का निरोध और बद्ध की निर्जरा करने वाला है; इसलिए वह स्वाख्यात है।

‡ चूर्णिकार ने 'आदान' का अर्थ ज्ञान, दर्शन और चारित्र तथा वृत्तिकार ने 'कर्म' या वस्त्र आदि किया है। प्रकरणानुसार 'वस्त्र' ही प्रतीत होता।

सरीरलाघवधुत-पदं

६६. एवं तेसिं महावीराणं चिरराइं पुव्वाइं वासाणि रीयमाणाणं दवियाणं पास अहियासियं।

६७. आगयपण्णाणाणं किसा बाहा भवंति, पयणुए य मंससोणिए।

६८. विस्सेणिं कट्टु, परिण्णाए।

६९. एस तिण्णे मुत्ते विरए वियाहिए त्ति बेमि।

संजमधुत-पदं

७०. **विरयं भिक्खुं रीयंतं,** चिररातोसियं, अरती तत्थ किं विधारए?

७१. **संधेमाणे समुट्ठिए।**

७२. **जहा से दीवे असंदीणे,** एवं से धम्मे **आयरिय-पदेसिए।**

७३. ते अणवकंखमाणा अणतिवाएमाणा दइया मेहाविणो पंडिया।

विणयधुत-पदं

७४. एवं तेसिं भगवओ अणुट्ठाणे जहा से दिया-पोए।

शरीर-लाघव धुत

६६. जीवन के पूर्व भाग में दीक्षित होकर जीवन-पर्यन्त संयम में चलने वाले, चारित्र-सम्पन्न और पराक्रमी साधुओं ने इस प्रकार जो सहन किया, उसे तू देख।

६७. प्रज्ञा-प्राप्त मुनि की भुजाएं कृश होती हैं और रक्त-मांस अल्प होते हैं।[१०]

६८. मुनि [समत्व की] प्रज्ञा से [राग-द्वेष की] श्रेणी को छिन्न कर डाले।

६९. यह (राग-द्वेष की श्रेणी को छिन्न करने वाला) तीर्ण, मुक्त, विरत कहलाता है। ऐसा मैं कहता हूं।

संयम धुत

७०. चिरकाल से प्रव्रजित संयम में [उत्तरोत्तर] गतिशील विरत भिक्षु को क्या अरति अभिभूत कर पायेगी ?[११]

७१. [प्रतिक्षण धर्म का] संधान करने वाले तथा [वीतरागता के] अभिमुख मुनि को [अरति अभिभूत नहीं कर पाती]।[१२]

७२. जैसे जल से अप्लावित द्वीप [पोत-यात्रियों के लिए आश्वास-स्थान होता है,] वैसे ही तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट धर्म [संसार-समुद्र का पार पाने वाले के लिए आश्वास-स्थान] होता है।[१३]

७३. मुनि [भोग की] आकांक्षा तथा [प्राणी का] प्राण-वियोजन नहीं करने के कारण लोकप्रिय (धार्मिक जगत्-सम्मत), मेधावी और आत्मज्ञ होते हैं।

विनय धुत

७५. एवं ते सिस्सा दिया य राओ य अणुपुव्वेण वाइय।

—त्ति बेमि।

चउत्थो उद्देसो

गोरवपरिच्चायधुत-पदं

७६. एवं ते सिस्सा दिया य राओ य, अणुपुव्वेण वाइया तेहिं महावीरेहिं पण्णाणमंतेहिं।

७७. तेसिंतिए पण्णाणमुवलब्भ हिच्चा उवसमं फारुसियं समादियंति।

७८. वसित्ता बंभचेरंसि आणं 'तं णो' त्ति मण्णमाणा।

७९. अग्घायं तु सोच्चा णिसम्म समणुण्णा जीविस्सामो एगे णिक्खम्म ते—

असंभवंता विडज्झमाणा, कामेहिं गिद्धा अज्झोववण्णा।
समाहिमाघायमझोसयंता, सत्थारमेव फरुसं वदंति॥

८०. सीलमंता उवसंता, संखाए रीयमाणा। असीला अणुवयमाणा।

८१. बितिया मंदस्स बालया।

७५. इसी प्रकार दिन और रात क्रमानुसार शिक्षित शिष्य [आत्म-साधन में समर्थ हो जाते हैं]।

—ऐसा मैं कहता हूं।

चतुर्थ उद्देशक

गौरव-त्याग धुत

७६. उन पराक्रमी और प्रज्ञावान [गुरुजनों के] द्वारा वे शिष्य इस प्रकार [विहग-पोत के संवर्धन-क्रम की भांति] दिन और रात क्रमानुसार शिक्षित किए जाते है।

७७. उनके पास प्रज्ञान को प्राप्त कर और उपशम का अभ्यास करके [भी] कुछ शिष्य ज्ञान-मद से उन्मत्त होकर परुषता का आचरण करते हैं—गुरुजनों की वाणी और व्यवहार के प्रति अनादर प्रदर्शित करते है।

७८. वे ब्रह्मचर्य (गुरुकुलवास) में रहकर भी [आचार्य की] आज्ञा को 'यह [तीर्थंकर की आज्ञा] नहीं है' [यह कह कर अस्वीकार कर देते है]।

७९. कुछ पुरुष धर्म-उपदेश को सुनकर, समझकर, 'अनुत्तर संयम का जीवन जीएंगे' इस संकल्प से दीक्षित होकर उस संकल्प के प्रति सच्चे नहीं होते। वे कषाय की अग्नि से दग्ध, काम-भोगों में आसक्त या [ऋद्धि, रस और सुख के प्रति] लोलुप होकर तीर्थंकर के द्वारा आख्यात समाधि (इन्द्रिय और मन का संयम) का सेवन नहीं करते [तथा आचार्य के द्वारा शास्ता के वचन का प्रामाण्य उपस्थित कर प्रेरित किए जाने पर] शास्ता के लिए ही परुष वचन बोलते है।

८२. णियट्टमाणा वेगे आयार-गोयरमाइक्खंति णाणभट्ठा दंसण-लूसिणो।

८३. णममाणा एगे जीवितं विप्परिणामेंति।

८४. पुट्ठा वेगे णियट्टंति, जीवियस्सेव कारणा।

८५. णिक्खंतं पि तेसिं दुण्णिक्खंतं भवति।

८६. बाल-वयणिज्जा हु ते नरा, पुणो-पुणो जातिं पकप्पेंति।

८७. अहे संभवंता विद्दायमाणा, अहमंसी विउक्कसे।

८८. उदासीणे फरुसं वदंति।

८९. पलियं पगंथे अदुवा पगंथे अतहेहिं।

९०. तं मेहावी जाणिज्जा धम्मं।

९१. अहम्मट्ठी तुमंसि णाम बाले, आरंभट्ठी, अणुवयमाणे, हणमाणे, घायमाणे, हणओ यावि समणुजाणमाणे, घोरे धम्मे उदीरिए, उवेहइ णं अणाणाए।

८२. कुछ ज्ञान-भ्रष्ट, दर्शन-ध्वंसी और [संयम से] निवर्तमान मुनि आचार-गोचर की व्याख्या करते हैं।

८३. [तीर्थंकर की आज्ञा और आचार्य के प्रति] नत होते हुए भी कुछ मुनि [मोहवश संयम-] जीवन को ध्वस्त कर देते हैं।

८४. कुछ साधक (परीषहों से) स्पृष्ट होकर केवल (सुखपूर्ण) जीवन जीने के लिए संयम को छोड़ देते हैं।

८५. उन (संयम को छोड़ देने वाले मुनियों) का गृहवास से निष्क्रमण भी दुर्निष्क्रमण हो जाता है।

८६. वे साधारण जन के द्वारा भी निन्दनीय होते हैं और [विषय में आसक्त होने के कारण] बार-बार जन्म को प्राप्त होते हैं।

८७. वे [ज्ञान की] निम्न भूमिका में होते हुए भी अपने को विद्वान् मानकर अहं का व्यापन करते हैं।

८८. वे मध्यस्थ (अहंकार-मुक्त) मुनियों के लिए परुष वचन बोलते हैं।

८९. वे [उन मध्यस्थ मुनियों को उनके गृहवास के] कर्म की [स्मृति दिलाकर] अथवा [अभद्र शब्दों का प्रयोग कर] तथ्यहीन आरोप लगाकर परुष बोलते हैं।

९०. [illegible] आचरण करता है] इसलिए मेधावी को धर्म जानना चाहिए।

९२. एस विसण्णे वितद्दे वियाहिते त्ति बेमि।

९३. 'किमणेण भो! जणेण करिस्सामि'त्ति मण्णमाणा एवं पेगे वइत्ता,
मातरं पितरं हिच्चा, णातओ य परिग्गहं।
वीरायमाणा समुट्ठाए, अविहिंसा सुव्वया दंता।।

९४. अहेगे पस्स दीणे उप्पइए पडिवयमाणे।

९५. वसट्टा कायरा जणा लूसगा भवंति।

९६. अहमेगेसिं सिलोए पावए भवइ,"से समणविब्भंते समणविब्भंते"।

९७. पासहेगे समण्णागएहिं असमण्णागए, णममाणेहिं अणममाणे, विरतेहिं अविरते, दविएहिं अदविए।

९८. अभिसमेच्चा पंडिए मेहावी णिट्ठियट्ठे वीरे आगमेणं सया परक्कमेज्जासि।

—त्ति बेमि।

१२. वह (घोर धर्म की उपेक्षा करने वाला) विषण्ण (काम-भोग के पंक में मग्न) और वितर्क (हिंसक) कहलाता है। ऐसा मैं कहता हूं।

१३. 'हे [आत्मन् !] इस स्वजन का मैं क्या करूंगा ?'—यह मानते और कहते हुए कुछ लोग माता-पिता, ज्ञाति और परिग्रह को छोड़ वीरवृत्ति से प्रव्रजित होते हैं—अहिंसक, सुव्रती और दान्त बन जाते हैं।

१४. [पराक्रम की दृष्टि से] दीन बने हुए और उठकर गिरते हुए कुछ मुनियों को तू देख।

१५. विषय से पीड़ित कायर मनुष्य [व्रतों का] विध्वंस करने वाले होते हैं।

१६. कुछ [संयम से च्युत होने वाले] मुनियों की निन्दनीय प्रसिद्धि होती है, जैसे—'यह विभ्रान्त श्रमण है, यह विभ्रान्त श्रमण है।'

१७. तुम देखो—संयम से च्युत होने वाले मुनि सम्यक् आचार वालों के बीच असम्यक् आचार वाले, [संयम के प्रति] समर्पित मुनियों के बीच [संयम के प्रति] असमर्पित, विरत मुनियों के बीच अविरत तथा चारित्र से सम्पन्न मुनियों के बीच चारित्र से दरिद्र होते हैं।

१८. [उत्प्रव्रजित होने के परिणामों को] जानकर पंडित, मेधावी, [संयम-साधना द्वारा कृतार्थ] और वीर मुनि सदा आगम [से प्रतिपादित अर्थ] के अनुसार पराक्रम करे।

—ऐसा मैं कहता हूं।

९२. एस विसण्णे वितद्दे वियाहिते त्ति बेमि ।

९३. 'किमणेण भो ! जणेण करिस्सामि'त्ति मण्णमाणा एवं पेगे वइत्ता,

मातरं पितरं हिच्चा, णातओ य परिग्गहं ।
वीरायमाणा समुट्ठाए, अविहिंसा सुव्वया दंता ।।

९४. अहेगे पस्स दीणे उप्पइए पडिवयमाणे ।

९५. वसट्टा कायरा जणा लूसगा भवंति ।

९६. अहमेगेसिं सिलोए पावए भवइ,"से समणविब्भंते समणविब्भंते"।

९७. पासहेगे समण्णागएहिं असमण्णागए, णममाणेहिं अणममाणे, विरतेहिं अविरते, दविएहिं अदविए ।

९८. अभिसमेच्चा पंडिए मेहावी णिट्ठियट्ठे वीरे आगमेणं सया परक्कमेज्जासि ।

—त्ति बेमि ।

९२. वह (घोर धर्म की उपेक्षा करने वाला) विषण्ण (काम-भोग के पंक में मग्न) और वितर्क (हिंसक) कहलाता है। ऐसा मैं कहता हूं।

९३. 'हे [आत्मन् !] इस स्वजन का मैं क्या करूंगा ?'—यह मानते और कहते हुए कुछ लोग माता-पिता, ज्ञाति और परिग्रह को छोड़ वीरवृत्ति से प्रव्रजित होते हैं—अहिंसक, सुव्रती और दान्त बन जाते हैं।

९४. [पराक्रम की दृष्टि से] दीन बने हुए और उठकर गिरते हुए कुछ मुनियों को तू देख।

९५. विषय से पीडित कायर मनुष्य [व्रतों का] विध्वंस करने वाले होते हैं।

९६. कुछ [संयम से च्युत होने वाले] मुनियों की निन्दनीय प्रसिद्धि होती है, जैसे—'यह विभ्रान्त श्रमण है, यह विभ्रान्त श्रमण है।'

९७. तुम देखो—संयम से च्युत होने वाले मुनि सम्यग् आचार वालों के बीच असम्यग् आचार वाले, [संयम के प्रति] समर्पित मुनियों के बीच [संयम के प्रति] असमर्पित, विरत मुनियों के बीच अविरत तथा चारित्र से सम्पन्न मुनियों के बीच चारित्र से दरिद्र होते हैं।

९८. [उत्प्रव्रजित होने के परिणामों को] जानकर पंडित, मेधावी, [संयम-साधना द्वारा कृतार्थ] और वीर मुनि सदा आगम [में प्रतिपादित अर्थ] के अनुसार पराक्रम करे।

—ऐसा मैं कहता हूं।

पंचमो उद्देसो

तितिक्खा-सुत-पदं

९९. से गिहेसु वा गिहंतरेसु वा, गामेसु वा गामंतरेसु वा, नगरेसु वा
नगरंतरेसु वा, जणवएसु वा जणवयंतरेसु वा, संतेगइया जणा
लूसगा भवंति, अदुवा—
फासा फुसंति ते फासे, पुट्ठो वीरोहियासए।

धम्मोवदेस-सुत-पदं

१००. ओए समियदंसणे।

१०१. दयं लोगस्स जाणित्ता पाईणं पडीणं दाहिणं उदीणं, आइक्खे
विभए किट्टे वेयवी।

१०२. से उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेदए— संतिं,
विरतिं, उवसमं, णिव्वाणं, सोयवियं, अज्जवियं, मद्दवियं,
लाघवियं, अणइवत्तियं।

पंचम उद्देशक

तितिक्षा धुत

९९. गृहों में, गृहान्तरों में, ग्रामों में, ग्रामान्तरों में, नगरों में, नगरान्तरों में, जनपदों में, जनपदान्तरों में [परिव्रजन करते हुए या कायोत्सर्ग में स्थित] मुनि को कुछ लोग अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग देते हैं अथवा [सर्दी, गर्मी, दंश-मशक आदि के] स्पर्श प्राप्त होते हैं। [उनसे] स्पृष्ट होने पर वीर मुनि उन सबको सहन करे।

धर्मोपदेश धुत

१००. पक्षपात-रहित और सम्यग्-दर्शनी मुनि [धर्म की व्याख्या करे]।[२४]

१०१. आगमज्ञ मुनि पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर—सभी दिशाओं और विदिशाओं में जीव-लोक की दया को ध्यान में रखकर [धर्म की] व्याख्या, उसके विभाग का निरूपण और उसके [परिणाम का] प्रतिपादन करे।[२४]

१०२. धर्म सुनने के इच्छुक मनुष्यों के बीच, फिर वे [धर्माचरण के लिए] उत्थित हों या अनुत्थित, मुनि शांति, विरति, उपशम, निर्वाण, शौच [अलोभ], आर्जव, मार्दव, लाघव (उपकरण आदि की अल्पता) और अहिंसा का प्रतिपादन करे।[२४]

१०३. भिक्षु सब प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों के सामने विवेकपूर्वक धर्म की व्याख्या करे।[२४]

१०४. विवेकपूर्वक धर्म की व्याख्या करता हुआ भिक्षु न अपने-आप को बाधा पहुंचाए, न दूसरे को बाधा पहुंचाए और न अन्य प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों को बाधा पहुंचाए।[२४]

१०५. से अणासादए अणासादमाणे वुज्झमाणाणं पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं, जहा से दीवे असंदीणे, एवं से भवइ सरणं महामुणी।

कसायपरिच्चायधुत-पदं

१०६. एवं से उट्ठिए ठियप्पा, अणिहे अचले चले, अबहिलेस्से परिव्वए।

१०७. संखाय पेसलं धम्मं, दिट्ठिमं परिणिव्वुडे।

१०८. तम्हा संगं ति पासह।

१०९. गंथेहिं गढिया णरा, विसण्णा कामविप्पिया।

११०. तम्हा लूहाओ णो परिवित्तसेज्जा।

१११. जस्सिमे आरंभा सव्वतो सव्वत्ताए सुपरिण्णाया भवंति, जेसिमे लूसिणो णो परिवित्तसंति, से वंता कोहं च माणं च मायं च लोभं च।

१०५. दूसरों को बाधा न पहुंचाने वाला, जीवों की हिंसा का निमित्त बने [ऐसा उपदेश न देने वाला] तथा आहार आदि की प्राप्ति के लिए [धर्म-कथा नहीं करने वाला]× महामुनि संसार-प्रवाह में डूबते हुए प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों के लिए वैसे ही शरण होता है जैसा [समुद्र में डूब रहे जल-यात्रियों के लिए] जल से अप्लावित द्वीप।[२४]

कषाय-परित्याग धुत

१०६. इस प्रकार [संयम-साधना के लिए] उत्थित, स्थितात्मा, अपनी शक्ति का गोपन नहीं करने वाला, परीषह से अप्रकम्पित, कर्म-समूह को प्रकम्पित करनेवाला और अध्यवसाय को संयम में लीन रखने वाला मुनि [अप्रतिबद्ध होकर] परिव्रजन करे।

१०७. दृष्टिमान् मुनि उत्तम धर्म को जानकर [विषय और कषाय को] शान्त करे।

१०८. इसलिए (विषय और कषाय को शान्त करने के लिए) तुम आसक्ति को देखो।[२५]

१०९. धन-धान्य आदि वस्तुओं में आसक्त और [विषयों में] निमग्न मनुष्य काम से बाधित होते हैं।+

११०. इसलिए मुनि संयम से उद्विग्न न हो।

१११. जिन आरम्भों से ये हिंसक मनुष्य उद्विग्न नहीं होते, उन (आरम्भों) को सब प्रकार से, सर्वात्मना छोड़ देने वाला मुनि क्रोध, मान, माया और लोभ का वमन कर [मोह के बंधन को तोड़ डालता है]।

× चूर्णिकार ने अणासादमाणे का अर्थ किया है—मुनि उस प्रकार का धर्म न कहे, जिससे प्राण, भूत, जीव, सत्त्व की आशातना हो। इसका वैकल्पिक अर्थ वह किया है, जो अनुवाद में स्वीकृत है—"अणासातमाणोत्ति तहा ण कहेति जहा पाणभूयजीवसत्ताणं आसायणा भवति, अप्पं वा, अहवा फम्मं कहेंतो ण किंचि आसादए अन्नं वा पाणं वा, जं भणितं—तदट्ठा ण कहेति।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ "दूसरे के द्वारा आशातना न कराता हुआ" किया है—"परैरनाशातयन्।"

+ विप्पिया—विग्घतत्ति (विघ्नता) विप्पितत्ति एगट्ठ—चूर्णि, पृ० २४२।

११२. एस तुट्टे वियाहिते त्ति बेमि।

११३. कायस्स विओवाए, एस संगामसीसे वियाहिए।
से हु पारंगमे मुणी, अवि हम्ममाणे फलगावयट्ठि, कालोवणीते कंखेज्ज कालं, जाव सरीरभेउ।

—त्ति बेमि।

११२. वह त्रोटक (तोड़ने वाला) कहलाता है। —ऐसा मैं कहता हूं।

११३. मृत्यु के समय होने वाला शरीर-पात संग्राम-शीर्ष (अग्रिम मोर्चा) कहलाता है। जो मुनि [उसमें पराजित नहीं होता,] वही पारगामी होता है।

वह परीषह से आहत होने पर जैसे खिन्न नहीं होता, वैसे बाह्य और आन्तरिक तप के द्वारा फलक की भांति शरीर और कषाय—दोनों ओर से कृश बना हुआ× खिन्न न बने। मृत्यु के निकट आने पर जब तक शरीर का वियोग न हो, तब तक काल की प्रतीक्षा करे—मृत्यु की आशंसा न करे।[१६]

—ऐसा मैं कहता हूं।

× जैसे काष्ठ को दोनों ओर से छीलकर उसका फलक बनाया जाता है, वैसे ही शरीर और कषाय से कृश बना हुआ मुनि फ़लगावयट्ठी कहलाता है।

टिप्पण

सूत्र—१

१. कोई भी तत्त्व-प्रतिपादन अपौरुषेय नहीं होता है। इस विश्व में जो भी तत्त्व प्रतिपादित है, वह मनुष्य के द्वारा ही प्रतिपादित है।

सूत्र—६

२. प्रस्तुत सूत्र के रूपक का पूर्ण आशय इस प्रकार है—एक बहुत बड़ा ह्रद था। वह सघन सेवाल और कमल-पत्रों से ढंका रहता था। उसमें नाना प्रकार के जलचर जीव थे। एक दिन स्वभावतः उस सघन सेवाल में विवर हो गया। अपने परिवार से विछुड़ा हुआ एक कछुआ संयोगवश वहां आ पहुंचा। उसने गर्दन बाहर निकाल कर नक्षत्रों और ताराओं से आकीर्ण नील गगन को देखा। उसका मन प्रमोद से भर गया। उसने सोचा—मैं अपने सारे परिवार को यहां लाऊं और उन्हें यह अनुपम दृश्य दिखलाऊं। वह परिवार की खोज में नीचे गया। परिवार को उस अनुपम दृश्य देखने की वात वताई और उसके साथ विवर की खोज में चल पड़ा। वह ह्रद इतना विशाल था कि उसे वह विवर फिर कभी प्राप्त नहीं हुआ।

यह संसार एक ह्रद है। यह मनुष्य एक कछुआ है। कर्म सेवाल है। सम्यक्त्व विवर है। संयम के आकाश को देखकर वह फिर घर में जाता है और वहां आसक्त हो जाता है। फिर उसे संयम का जीवन प्राप्त नहीं होता। यह अनात्मप्रज्ञ के अवसाद का एक उदाहरण है।

सूत्र—९

३. अन्धकार दो प्रकार का होता है: १. द्रव्य अन्धकार—यह प्रकाश के अभाव में होता है। २. भाव अन्धकार—मिथ्यात्व और अज्ञान।

अन्ध भी दो प्रकार के होते हैं: १. द्रव्य अन्ध—चक्षु-रहित। २. भाव अन्ध—विवेक-रहित।

मिथ्यात्व और अज्ञान में रहने वाले मनुष्य विवेकशून्य होते हैं। वे कर्म के उपादान और परिपाक को नहीं देख पाते।

सूत्र १३

४. एक जीव दूसरे जीव को कष्ट देता है, उसके सामान्य हेतु दो हैं—
(१) आहार (२) प्रतिशोध।

सूत्र—१४-१६

५. एक जीव दूसरे जीव को सताता है—यह इस जगत् में होने वाला महान् भय है। नाना प्रकार के दु:खों का होना भी महान् भय है। इनके होने पर भी मनुष्य काम-भोगों में आसक्त हैं, यह कितना आश्चर्य है!

सूत्र—१८

६. 'परलोक है या नहीं? उसे किसने देखा है? फिर यह भय क्यों होना चाहिए कि परलोक अच्छा नहीं होगा? किया हुआ कर्म अगले जन्म में भुगतना होगा—इस सिद्धान्त का क्या अर्थ है?'—इस प्रकार का चिन्तन धृष्टता का लक्षण है।

सूत्र—२५

७. गर्भ के प्रथम सप्ताह में कलल (भ्रूण), दूसरे सप्ताह में अर्वुद (बुद्बुद) और अर्वुद के पश्चात् पेशी का निर्माण होता है। कलल अवस्था के लिए 'अभिसंभूत', अर्वुद और पेशी—इन दो अवस्थाओं के लिए 'अभिसंजात' और अंगोपांग-निर्माण की अवस्था के लिए 'अभिनिर्वृत्ति' शब्द प्रयुक्त किए गए हैं।

सूत्र—३२

८. परीषह दो प्रकार के होते हैं—अनुकूल और प्रतिकूल। शब्द, रूप आदि इन्द्रिय-विषय अनुकूल परीषह हैं। उनके प्राप्त होने पर व्यापार और उनके निवृत्त होने पर उनकी स्मृति करने वाला अनुकूल परीषहों को सहन नहीं कर सकता। उनके प्राप्त होने पर अव्यापार और उनके निवृत्त होने पर अस्मृति करने वाला अनुकूल परीषहों को सहन कर सकता है।

प्रतिकूल परिषहों के सहन और असहन का भी यही क्रम है।

सूत्र—३३

९. काम निर्विघ्न नहीं होता। मृत्यु उसका सबसे बड़ा विघ्न है।

सूत्र—३४

१०. विघ्न, द्वन्द्व और अपूर्णता—ये काम के साथ जुड़े हुए हैं। मनुष्य सुख की

इच्छा से उनका सेवन करना चाहता है, पर सेवन-काल में अपहरण, रोग, मृत्यु आदि अनेक विघ्न उपस्थित हो जाते हैं। मनुष्य इष्ट विषय चाहता है, पर प्रत्येक इष्ट विषय के साथ अनिष्ट विषय अनचाहा आ जाता है। काम अपूर्ण हैं, इसलिए वे मनुष्य की तृप्ति को पूर्ण नहीं कर सकते। फलतः जैसे-जैसे उनका सेवन होता है, वैसे-वैसे अतृप्ति बढ़ती जाती है। इस क्रम से उनका पार पाना असम्भव हो जाता है।

सूत्र—४०

११. अवमौदर्य का अर्थ है—अल्पीकरण। इसके दो प्रकार हैं: द्रव्य अवमौदर्य—वस्त्र और आहार का अल्पीकरण तथा भाव अवमौदर्य—क्रोध आदि का अल्पीकरण।

वस्त्र क्रोध आदि का निमित्त बन सकता है। उसका त्याग करने वाला भावतः भी अवमौदर्य करता है।

सूत्र—४२

१२. सब प्रकार के काम करने वाले लोग अर्हत् के शासन में दीक्षित होते थे। कुछ लोग गृहवास के कर्म को याद दिलाकर उन्हें कोसते, जैसे—"ओ जुलाहा! तू साधु हो गया, पर क्या जानता है?" "ओ लकड़हारा! कल तक लकड़ियों का गट्ठर ढोता था, आज साधु बन गया!"

सूत्र—४३

१३. सम्यक् चिन्तन के पांच प्रकार हैं—कोई गाली दे, पीटे या अंग-भंग करे, तब मुनि चिन्तन करे—

१. यह पुरुष यक्ष से आविष्ट है।

२. यह पुरुष उन्मत्त है।

३. यह पुरुष दर्पयुक्त चित्त वाला है।

४. मेरा किया हुआ कर्म उदय में आ रहा है; इसलिए यह पुरुष मुझे गाली देता है, बांधता है, पीटता है।

५. मैं इस कष्ट को सहन करूंगा, तो मेरे कर्म क्षीण होंगे।

सूत्र—४८

१४. वृत्तिकार ने 'आणाए मामगं धम्मं' इस पाठ के दो अर्थ किए हैं—

१. आज्ञा से मेरे धर्म का सम्यग् अनुपालन करे।

२. धर्म ही मेरा है; इसलिए मैं तीर्थंकर की आज्ञा से उसका सम्यक् पालन करूं।

'मेरा धर्म मेरी आज्ञा में है' यह पारम्परिक अर्थ प्रचलित है।

'मामगं धम्मं' यह कर्म-पद है; इसलिए **'आंणाए'** का **'आज्ञाय'** रूप मानकर इसका अनुवाद किया गया है।

सूत्र—४७-४९

१५. मुनि-धर्म को स्वीकार कर पुनः गृहवास में चले जाने वाले व्यक्ति को आगमन-धर्मा कहा गया है। पुनः गृहवास जाने का कारण है—परीषह सहने की अक्षमता।

काम आदि अनुकूल परीषहों, आक्रोश, प्रहार आदि प्रतिकूल परीषहों तथा अचेल, भिक्षा जैसे लज्जाजनक परीषहों को सहन करनेवाला पुनः गृहवास में नहीं जाता। वह अनागमन-धर्मा होता है।

भगवान् ने अहिंसा और परीषह-सहन—इन दो लक्षण वाले धर्म का निरूपण किया है। इस धर्म को जानने वाला ही परीषहों के आने पर अविचलित रह सकता है और अविचलित रहने वाला ही जीवन के अन्तिम श्वास तक मुनि-धर्म का पालन कर सकता है।

सब प्रकार के परीषहों को सहना, भयंकर परीषहों के उपस्थित होने पर भी मुनि-धर्म को न छोड़ना, यह उत्तर-वाद है।

सूत्र—५३

१६. सर्वेषणा के द्वारा आहार-ग्रहण से लेकर आहार करने तक की सारी एषणाओं का संकेत दिया गया है। मुनि की सब एषणाएं शुद्ध होनी चाहिए।

सूत्र—६५

१७. कोई मुनि तीन वस्त्र रखता है, कोई दो, कोई एक और कोई निर्वस्त्र रहता है। किन्तु वे एक-दूसरे की अवहेलना नहीं करते, क्योंकि वे सब तीर्थंकर की आज्ञा में विद्यमान हैं। यह आचार की भिन्नता शारीरिक संहनन, धृति आदि हेतुओं से होती है। इसलिए अचेल रहनेवाला सचेल मुनि की अवज्ञा नहीं करता और अपने को उससे उत्कृष्ट भी नहीं मानता। **आयार-चूला** (५।२१) में बतलाया गया है कि वस्त्र की प्रतिमाओं को स्वीकार करने वाला मुनि यह न कहे—'वे भदन्त मिथ्या प्रतिपन्न हैं, मैं सम्यक् प्रतिपन्न हूं।' किन्तु यह सोचे—'हम सब तीर्थंकर की आज्ञा के अनुसार संयम का अनुपालन कर रहे हैं।' यह समत्व का अनुशीलन है।

सूत्र—६७

१८. श्रुतज्ञान के अभ्यास के समय मुनि उपवास, अल्पाहार या रूक्षाहार करता है। उससे उसका शरीर कृश हो जाता है। भुजा की कृशता शरीर की कृशता की सूचक है। अल्पाहार या रूक्षाहार से रस कम बनता है और रस के अल्प होने पर रक्त, मांस आदि धातुएं भी अल्प बनती हैं। फलतः शरीर लघु हो जाता है। स्वाध्याय में निरन्तर संलग्न रहने से भी शरीर लघु रहता है। बाह्य और आभ्यन्तर ये दोनों तप शरीर-लाघव के हेतु हैं।

चूर्णिकार ने उपकरण-लाघव की भांति शरीर-लाघव के सभी सूत्रों की ओर इंगित किया है। उसके अनुसार तीनों सूत्रों (६३, ६४, ६५) का अनुवाद इस प्रकार है—

६३. ज्ञान का ग्रहण और तप करने वाले मुनि के शरीर-लाघव होता है।

६४. शरीर को कृश करने वाले मुनि के तप होता है।

६५. भगवान् ने जैसे शरीर-लाघव का प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप में जानकर, सब प्रकार से, सर्वात्मना समत्व को समझकर किसी की अवज्ञा न करे।

चार मास का उपवास करने वाला मुनि मासिक उपवास करने वाले मुनि की अवज्ञा न करे। इसी प्रकार एकान्तर उपवास करने वाला मुनि प्रतिदिन आहार करने वाले मुनि की अवज्ञा न करे। इसी प्रकार विशिष्ट स्वाध्याय करने वाला अल्प स्वाध्याय करने वाले की अवज्ञा न करे। समत्व का अनुशीलन करने वाला मुनि किसी की भी अवज्ञा नहीं करता।

सूत्र—७०

१९. मनुष्य की इन्द्रियां दुर्बल, चपल और उच्छृंखल होती हैं तथा मोह की शक्ति अचिन्त्य और कर्म की परिणति विचित्र होती है। इसलिए वे ज्ञानी मनुष्य को भी पथ से उत्पथ की ओर ले जाती हैं।

सूत्र—७१

२०. साधक विषयों का त्याग कर संयम में रमण करता है। साधना-काल में प्रमाद, कषाय आदि समय-समय पर उभरते हैं और उसे विषयाभिमुख बना देते हैं। किन्तु जागरूक साधक धर्म की धारा को मूल स्रोत (आत्म-दर्शन) से जोड़कर आत्मानुभव करता रहता है।

सूत्र—७२

दीव शब्द की 'द्वीप' और 'दीप' इन दो रूपों में व्याख्या की जा सकती है। प्रकाश देता है और द्वीप आश्वास। ये दोनों दो-दो प्रकार के होते हैं।

१. संदीन—कभी जल से प्लावित हो जाने वाला और कभी पुनः खाली होने ा द्वीप। अथवा बुझ जाने वाला दीप।

२. असंदीन—जल से प्लावित नहीं होने वाला द्वीप। अथवा सूर्य, चन्द्र, आदि का स्थायी प्रकाश।

धर्म के क्षेत्र में सम्यक्त्व आश्वास-द्वीप है। प्रतिपाती सम्यक्त्व संदीन द्वीप र अप्रतिपाती सम्यक्त्व असंदीन द्वीप होता है। ज्ञान प्रकाश-दीप है। श्रुतज्ञान ीन दीप और आत्म-ज्ञान असंदीन दीप है।

धर्म का संधान करने वाले मुनि की संयम-रति असंदीन द्वीप या दीप जैसी ती है।

सूत्र—७४

२. विहग-पोत जब अण्डस्थ होता है, तब पंख की उष्मा से पोषण प्राप्त करता । अण्डावस्था से निकलने के बाद भी कुछ समय तक उसी से पोषण प्राप्त करता । जब तक वह उड़ने में समर्थ नहीं होता, तब तक माता-पिता द्वारा दिए गए भोजन से वह पोषण प्राप्त करता है। उड़ने में समर्थ होने पर माता-पिता को छोड़ अकेला चला जाता है।

इससे नवदीक्षित मुनि के व्यवहार की तुलना की गई है। वह प्रव्रज्या, शिक्षा और अवस्था से परिपक्व होता है, तब तक गुरु के द्वारा पोषण प्राप्त करता है और परिपक्व होने पर एक-चर्या करने में भी समर्थ हो जाता है।

सूत्र—८२

२३. ज्ञान और दर्शन से भ्रष्ट साधक अपने द्वारा आचरित आचार की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हैं। वे अहिंसा और संयम की कसौटी को छोड़कर सुविधा को आचार की कसौटी के रूप में मान्य करते हैं।

सूत्र—१००-१०५

२४. धर्म के व्याख्याकार की कुछ अर्हताएं हैं। वे अहिंसा और सत्य की कसौटी के आधार पर निर्धारित हैं। प्रस्तुत आलापक में पांच अर्हताएं प्रतिपादित हैं—

१. पक्षपात-शून्यता

२. सम्यग्-दर्शन

३. सर्वजीव-मैत्री

४. आगमज्ञता

५. अनाशातना

नागार्जुनीय वाचना के अनुसार जो मुनि वहुश्रुत, वहु आगमों का अध्येता, दृष्टान्त और हेतु के प्रयोग में कुशल, धर्म-कथा की योग्यता से सम्पन्न, क्षेत्र, काल और पुरुष को समझने वाला होता है, वही धर्म की व्याख्या करने के लिए अर्ह होता है। इस प्रसंग में 'केऽयं पुरिसे कं च णये' (२।१७७) यह सूत्र द्रष्टव्य है। अन्न, पान आदि के लिए धर्म-कथा करना निषिद्ध है।

सूत्र—१०८

२५. 'संग' शब्द के तीन अर्थ किए जा सकते हैं—आसक्ति, शब्द आदि इन्द्रिय-विषय और विघ्न।

आसक्ति को छोड़ने का उपाय है—आसक्ति को देखना। जो आसक्ति को नहीं देखता, वह उसे छोड़ नहीं पाता। भगवान् महावीर की साधना-पद्धति में जानना और देखना अप्रमाद है, जागरूकता है; इसलिए वह परित्याग का महत्त्व-पूर्ण उपाय है। जैसे-जैसे जानना और देखना पुष्ट होता है, वैसे-वैसे कर्म-संस्कार क्षीण होता है। उसके क्षीण होने पर आसक्ति अपने-आप क्षीण हो जाती है।

सूत्र—११३

२६ मृत्यु सचमुच संग्राम है। संग्राम में पराजित होने वाला वैभव से विपन्न और विजयी होने वाला वैभव से सम्पन्न होता है। वैसे ही मृत्यु-काल में आशंसा और भय से पराजित होने वाला साधना से च्युत हो जाता है तथा अनासक्त और अभय रहने वाला साधना के शिखर पर पहुंच जाता है। इसीलिए आगमकार का निर्देश है कि मृत्यु के उपस्थित होने पर मूढ़ता उत्पन्न नहीं होनी चाहिए। मूढ़ता से बचने की तैयारी जीवन के अन्तिम क्षण में नहीं होती। वह पहले से करनी होती है। उसकी मुख्य प्रवृत्ति है—शरीर और कषाय का कृशीकरण। तुलना, सूत्रकृतांग सूत्र १।७।३०।

अट्ठमं अज्झयणं
विमोक्खो

अष्टम अध्ययन
विमो

पढमो उद्देसो

असमणुण्णविमोक्ख-पदं

१. से बेमि—समणुण्णस्स[+] वा असमणुण्णस्स वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वापायपुंछणं वा णो पाएज्जा, णो णिमंतेज्जा, णो कुज्जा वेयावडियं--परं आढायमाणे त्ति बेमि।

२. धुवं चेयं जाणेज्जा—असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा लभिय णो लभिय, भुंजिय णो भुंजिय, पंथं विउत्ता विउकम्म विभत्तं धम्मं झोसेमाणे समेमाणे पलेमाणे, पाएज्ज वा, णिमंतेज्ज वा, कुज्जा वेयावडियं—परं अणाढायमाणे त्ति बेमि।

असम्मायार-पदं

३. इहमेगेसिं आयार-गोयरे णो सुणिसंते भवति, ते इह आरंभट्ठी अणुवयमाणा हणमाणा, घायमाणा, हणतो यावि समणुजाणमाणा।

४. अदुवा अदिन्नमाइयंति।

+ अतः पूर्वं 'स भिक्खु' इति गम्यमस्ति।

प्रथम उद्देशक

असमनुज्ञ का विमोक्ष

१. मैं कहता हूं—

[भिक्षु] समनुज्ञ (पार्श्वस्थ आदि) और असमनुज्ञ मुनि को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोंछन न दे, न उन्हें देने के लिए निमन्त्रित करे, न उनके कार्यों में व्यापृत हो; यह सब अत्यन्त आदर प्रदर्शित करता हुआ करे। ऐसा मैं कहता हूं।[1]

२. [असमनुज्ञ भिक्षु मुनि से कहे—] 'तुम निरन्तर ध्यान रखो—[हमारे मठ में प्रतिदिन] अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोंछन [उपलब्ध है]। तुम्हें ये प्राप्त हों या न हों, तुम भोजन कर चुके हो या न कर चुके हो, मार्ग सीधा हो या टेढा हो, तुम अपने [हम से भिन्न] धर्म का पालन करते हुए, वहां आओ और जाओ।'—इस प्रकार असमनुज्ञ भिक्षुओं के अनुरोध को मानकर मुनि के वहां जाने पर वह अशन आदि दे, निमन्त्रित करे और मुनि के कार्यों में व्यापृत हो, तो उसे कुछ भी आदर न दे—उसकी उपेक्षा कर दे। ऐसा मैं कहता हूं।

असम्यग् आचार

३. कुछ भिक्षुओं को आचार-गोचर सम्यग् उपलब्ध नहीं होता। वे [पचन, पाचन आदि] आरम्भ के अर्थी होते हैं, आरम्भ करने वाले का समर्थन करते हैं, स्वयं प्राणियों का वध करते हैं, करवाते हैं और करने वालों का अनुमोदन करते हैं।

४. अथवा वे अदत्त का ग्रहण करते हैं।[2]

५. अदुवा वायाओ विउंजंति, तं जहा—
अत्थि लोए, णत्थि लोए,
धुवे लोए, अधुवे लोए,
साइए लोए, अणाइए लोए,
सपज्जवसिते लोए, अपज्जवसिते लोए,
सुकडेत्ति वा दुक्कडेत्ति वा,
कल्लाणेत्ति वा पावेत्ति वा,
साहुत्ति वा असाहुत्ति वा,
सिद्धीति वा, असिद्धीति वा,
णिरएत्ति वा, अणिरएत्ति वा।

६. जमिणं विप्पडिवण्णा मामगं धम्मं पण्णवेमाणा।

७. एत्थवि जाणह अकस्मात्।

८. एवं तेसिं णो सुअक्खाए, णो सुपण्णत्ते धम्मे भवति।

५. अथवा वे [परस्पर-विरोधी] वादों का प्रतिपादन करते हैं।

जैसे—

[अस्तित्ववादी मानते हैं—] लोक वास्तविक है।

[नास्तित्ववादी मानते हैं—] लोक वास्तविक नहीं है।

[अचलवादी मानते हैं—] आदित्य-मंडल स्थिर है।‡

[चलवादी मानते हैं—] आदित्य-मंडल चल है।+

[सृष्टिवादी मानते हैं—] लोक सादि है।

[असृष्टिवादी मानते हैं—] लोक अनादि है।

[सृष्टिवादी मानते हैं—] लोक सान्त है।

[असृष्टिवादी मानते हैं—] लोक अनन्त है।

[कुछ दार्शनिक मानते हैं—] सुकृत है।

[कुछ दार्शनिक मानते हैं—] दुष्कृत है।

[कुछ दार्शनिक मानते हैं—] कल्याण है।

[कुछ दार्शनिक मानते हैं—] पाप है।

[कुछ दार्शनिक मानते हैं—] साधु है।

[कुछ दार्शनिक मानते हैं—] असाधु है।

[कुछ दार्शनिक मानते हैं—] निर्वाण है।

[कुछ दार्शनिक मानते हैं—] निर्वाण नहीं है।

[कुछ दार्शनिक मानते हैं—] नरक है।

[कुछ दार्शनिक मानते हैं—] नरक नहीं है।

६. वे परस्पर-विरोधी वादों को स्वीकार करते हुए अपने-अपने धर्म का निरूपण करते हैं।

७. तुम× जानो, 'ये एकांगी वाद अहेतुक हैं—हेतुशून्य हैं।'

८. उन (हेतुशून्य सिद्धान्त का निरूपण करने वाले दार्शनिकों) का धर्म न सुआख्यात होता है और न सुनिरूपित।

---

‡ वैकल्पिक अनुवाद इस प्रकार है—
[शाश्वतवादी मानते हैं—] लोक कूटस्थ नित्य है।

+ वैकल्पिक अनुवाद इस प्रकार है—
[परिवर्तनवादी मानते हैं—] लोक परिवर्तनशील है।

× मुनि एकांगी दृष्टिकोण वाले दार्शनिकों के संस्तव (गाढ़ परिचय) में न रहे। प्रयोजनवश वह वहां जाए, तब तत्त्व-चर्चा चलने पर, उन्हें कहे—

विवेग-पदं

९. से जहेयं भगवया पवेदितं आसुपण्णेण जाणया पासया।

१०. अदुवा गुत्ती वओगोयरस्स त्ति बेमि।

११. **सव्वत्थ सम्मयं पावं।**

१२. तमेव उवाइकम्म।

१३. एस महं विवेगे वियाहिते।

१४. **गामे वा अदुवा रण्णे ?**
णेव गामे णेव रण्णे धम्ममायाणह—पवेदितं **माहणेण मईमया।**

१५. **जामा तिण्णि उदाहिया,** जेसु इमे आरिया **संबुज्झमाणा समुट्ठिया।**

१६. **जे णिव्वुया पावेहिं कम्मेहिं, अणियाणा ते वियाहिया।**

अहिंसा-पदं

१७. उड्ढं अहं तिरियं दिसासु, सव्वतो सव्वावंति च णं पडियक्कं जीवेहिं कम्म-समारंभे णं।

१८. **तं परिण्णाय मेहावी** णेव सयं एतेहिं काएहिं दंडं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं एतेहिं काएहिं दंडं समारंभावेज्जा, नेवण्णे एतेहिं काएहिं दंडं समारंभंते वि समणुजाणेज्जा।

१९. जेवण्णे एतेहिं काएहिं दंडं समारंभंति, तेसिं पि वयं लज्जामो।

विवेक

६. आशुप्रज्ञ भगवान् महावीर ने ज्ञान-दर्शनपूर्वक धर्म का जैसे प्रतिपादन किया है, [उसकी वैसी व्याख्या करे]।

१०. अथवा [उस धर्म की व्याख्या करने में समर्थ न हो, विवाद बढ़ता हो, तो] वाणी के विषय का गोपन करे—मौन रहे।[४]

११. हिंसा सर्वत्र (अन्य दर्शनों में) सम्मत है।[५]

१२. मुनि उसी (हिंसा) का अतिक्रमण [कर जीवन-यापन] करे।[५]

१३. यह महान् विवेक कहा गया है।[५]

१४. धर्म गांव में होता है या अरण्य में ? वह न गांव में होता है और न अरण्य में—तुम जानो। मतिमान् महावीर ने यह प्रतिपादित किया है।[६]

१५. तीन अवस्थाएं होती हैं। आर्य मनुष्य सम्बोधि को प्राप्त कर उन अवस्थाओं में प्रव्रजित होते हैं।[७]

१६. जो हिंसा आदि कर्म करने में उपशांत होते हैं, वे अनिदान (राग-द्वेष के बन्धन से मुक्त) कहलाते हैं।

अहिंसा

१७. ऊंची, नीची व तिरछी आदि सब दिशाओं में, सब प्रकार से जीवों के प्रति भिन्न-भिन्न प्रकार का कर्म-समारम्भ किया जाता है।[८]

१८. मेधावी उस कर्म-समारम्भ का विवेक कर इन सूक्ष्म जीव-कायों के प्रति स्वयं दण्ड का प्रयोग न करे, दूसरों से न करवाए और करने वालों का अनुमोदन न करे।

१९. जो भिक्षु इन सूक्ष्म जीव-कायों के प्रति दण्ड का प्रयोग करते हैं, उनके प्रति भी हम दया प्रदर्शित करते हैं।

२०. **परिण्णाय मेहावी** तं वा दंडं, अण्णं वा दंडं, णो दंडभी दंडं समारंभेज्जासि।

—त्ति बेमि।

बीओ उद्देसो

अणाचरणीय-विमोक्ख-पदं

२१. से भिक्खू परक्कमेज्ज वा, चिट्ठेज्ज वा, णिसीएज्ज वा, तुयट्टेज्ज वा, सुसाणंसि वा, सुन्नागारंसि वा, गिरिगुहंसि वा, रुक्खमूलंसि वा, कुंभारायतणंसि वा, हुरत्था वा कहिं चि विहरमाणं तं भिक्खुं उवसंकमित्तु गाहावती बूया—आउसंतो समणा! अहं खलु तव अट्ठाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारब्भ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेतेमि, आवसहं वा समुस्सिणोमि, से भुंजह वसह आउसंतो समणा!

२२. भिक्खू तं गाहावतिं समणसं सवयसं पडियाइक्खे—आउसंतो गाहावती! णो खलु ते वयणं आढामि, णो खलु ते वयणं परिजाणामि, जो तुमं मम अट्ठाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारब्भ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेएसि, आवसहं वा समुस्सिणासि, से विरतो आउसो गाहावती! एयस्स अकरणाए।

२०. मेधावी उस कर्म-समारम्भ का विवेक कर दण्ड-भीरु (हिंसा-भीरु) होने के कारण पूर्वकथित या अन्य किसी प्रकार के दण्ड का प्रयोग न करे।

—ऐसा मैं कहता हूं।

द्वितीय उद्देशक

अनाचरणीय का विमोक्ष

२१. भिक्षु कहीं जा रहा है; श्मशान, शून्यगृह, गिरि-गुफा, वृक्ष के नीचे या कुम्हार के आयतन में खड़ा, बैठा या लेटा हुआ है अथवा [गांव से] बाहर कहीं भी विहार कर रहा है। उस समय कोई गृहपति उसके पास आकर बोले—'आयुष्मान् श्रमण! मैं प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों का समारम्भ कर तुम्हारे लिए अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोंछन बनाता हूं या तुम्हारे उद्देश्य से उसे खरीदता हूं, उधार लेता हूं, दूसरों से छीनता हूं; वह मेरे भागीदार द्वारा अनुज्ञात नहीं है या उसे यहां लाता हूं। इस प्रकार का अशन आदि मैं तुम्हें देना चाहता हूं। तुम्हारे लिए उपाश्रय का निर्माण करता हूं। हे आयुष्मान् श्रमण! उस (अशन, या पान आदि) का उपभोग करो और (उस उपाश्रय में) रहो।'

२२. भिक्षु भद्र मन और वचन वाले उस गृहपति को प्रतिषेध की भाषा में कहे—'आयुष्मान् गृहपति! मैं तुम्हारे वचन को आदर नहीं देता हूं, स्वीकार नहीं करता हूं, जो तुम प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों का समारम्भ कर मेरे लिए अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोंछन बनाते हो या मेरे ही उद्देश्य से उसे खरीदते हो, उधार लेते हो, दूसरों से छीनते हो, तुम्हारे भागीदार की अनुज्ञा प्राप्त नहीं करते हो या अपने घर से यहां लाकर देना चाहते हो। मेरे लिए उपाश्रय का निर्माण करते हो। आयुष्मान् गृहपति! मैं उस (इस प्रकार के आहार या पा आदि) से विरत हुआ हूं। मेरे लिए यह अकरणीय है।'

२३. से भिक्खू परक्कमेज्ज वा, चिट्ठेज्ज वा, णिसीएज्ज वा, तुयट्टेज्ज वा, सुसाणंसि वा, सुन्नागारंसि वा, गिरिगुहंसि वा, रुक्खमूलंसि वा, कुंभारायतणंसि वा, हुरत्था वा कहिंचि विहरमाणं तं भिक्खुं उवसंकमित्तु गाहावती आयगयाए पेहाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारब्भ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेएइ, आवसहं वा समुस्सिणाति, तं भिक्खुं परिघासेउं।

२४. तं च भिक्खू जाणेज्जा—सहसम्मइयाए, परवागरणेणं, अण्णेसिं वा अंतिए सोच्चा अयं खलु गाहावई मम अट्ठाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पाय-पुंछणं वा पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारब्भ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेएइ, आवसहं वा समुस्सिणाति, तं च भिक्खू पडिलेहाए आगमेत्ता आणवेज्जा अणासेवणाए त्ति बेमि।

२५. भिक्खुं च खलु पुट्ठा वा अपुट्ठा वा जे इमे आहच्च गंथा फुसंति—"से हंता! हणह, खणह, छिंदह, दहह, पचह, आलुंपह, विलुंपह, सहसाकारेह, विप्परामुसह"—ते फासे **धीरो पुट्ठो अहियासए**।

२६. अदुवा आयार-गोयरमाइक्खे, **तक्किया ण मणेलिसं**। अणुपुव्वेण सम्मं पडिलेहाए आयगुत्ते।

२३. भिक्षु कहीं जा रहा है; श्मशान, शून्य गृह, गिरि-गुफा, वृक्ष के नीचे या कुम्हार के आयतन में खड़ा, बैठा या लेटा हुआ है अथवा [गांव से] बाहर कहीं भी विहार कर रहा है। उस समय कोई गृहपति आत्मगत भावों को प्रकट न करता हुआ[×] उसके पास आकर—प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों के समारम्भपूर्वक बनाया हुआ अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोंछन या उद्देश्यपूर्वक खरीदा हुआ, उधार लिया हुआ, दूसरों से छीना हुआ, उसके भागीदार द्वारा अननुज्ञात या अपने घर से वहां लाया हुआ अशन आदि उसे देना चाहता है या उपाश्रय का निर्माण करता है। यह सब भिक्षु के भोजन या आवास के लिए करता है।

२४. अपनी मति, अतिशय ज्ञानी या अन्य किसी से सुनकर भिक्षु को यह ज्ञात हो जाए कि यह गृहपति मेरे लिए प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों के समारम्भपूर्वक अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोंछन बनाकर या मेरे उद्देश्य से खरीद कर, उधार लेकर, दूसरों से छीनकर, उसके भागीदार से अनुज्ञा न लेकर या अपने घर से यहां लाकर अशन आदि देना चाहता है या उपाश्रय का निर्माण करता है। भिक्षु आगम की आज्ञा को ध्यान में रखकर उस गृहस्थ से कहे—इन (इस प्रकार के आहार आदि या उपाश्रय) का मैं सेवन नहीं कर सकता।' ऐसा मैं कहता हूं।

२५. भिक्षु को पूछकर या बिना पूछे [कुछ लोगों ने उसके लिए अशन आदि बनाया। भिक्षु के द्वारा उसका स्वीकार न करने पर] भिक्षु को कदाचित् रज्जु आदि बंधन से बांध देते हैं। वे अपने कर्मकरों को सम्बोधित कर कहते हैं—['तुम जाओ, व्यर्थ ही मेरे धन का अपव्यय कराने वाले उस भिक्षु को] पीटो, क्षत-विक्षत करो, हाथ-पैर आदि का छेदन करो, क्षार आदि से जलाओ, जलती लकड़ी से दाग दो, शरीर को नखों से नोंच डालो, बार-बार नोंच डालो, सिर काट डालो (या हाथी के पैर के नीचे कुचल डालो), नाना प्रकार से उसे पीडित करो।' उन कर्मकरों द्वारा कृत कष्टों के प्राप्त होने पर धीर मुनि उन्हें सहन करे।

२६. [अशन आदि बनाने वाले और उनके कर्मकरों को वह आत्मगुप्त मुनि यदि समझने योग्य जाने, तो] उन्हें क्रमशः सम्यक् प्रेक्षापूर्वक अपना असदृश [अन्यत्र अनुपलब्ध] आचार-गोचर समझाए।

× आत्मगतया प्रेक्षयाऽनाविष्कृताभिप्रायः केनचिदलक्ष्यमाणो यथाऽहमस्य दास्यामीत्यशनादिकं प्राप्युपनर्दनारभेत।—वृत्ति, पृ० २४६।

२७. अदुवा गुत्ती वओगोयरस्स ।

२८. **बुद्धेहिं एयं पवेदितं**—से समणुण्णे असमणुण्णस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा नो पाएज्जा, नो निमंतेज्जा, नो कुज्जा वेयावाडियं—परं आढायमाणे त्ति बेमि ।

२९. **धम्ममायाणह, पवेइयं माहणेण मतिमया**—समणुण्णे समणुण्णस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पाएज्जा, णिमंतेज्जा कुज्जा वेयावडियं—परं आढायमाणे ।

—त्ति बेमि ।

तइओ उद्देसो

पव्वज्जा-पदं

३०. **मज्झिमेणं वयसा एगे, संबुज्झमाणा समुट्ठिता ।**

३१. **सोच्चा वई मेहावी पंडियाणं निसामिया ।**
समियाए धम्मे, आरिएहिं पवेदिते ।

अपरिग्गह-पदं

३२. ते अणवकंखमाणा अणतिवाएमाणा अपरिग्गहमाणा णो परिग्गहावंती सव्वावंती च णं लोगंसि ।

३३. णिहाय दंडं पाणेहिं, पावं कम्मं अकुव्वमाणे, एस महं अगंथे वियाहिए ।

२७. अथवा [यदि वे समझने योग्य न हो, तो] वह वाणी के विषय का संगोपन करे—मौन रहे।

२८. ज्ञानी आचार्यों ने ऐसा कहा—
समनुज्ञ मुनि असमनुज्ञ मुनि को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोंछन न दे, न उन्हें देने के लिए निमंत्रित करे, न उनके कार्यों में व्यापृत हो, यह सब अत्यन्त आदर प्रदर्शित करता हुआ करे। ऐसा मैं कहता हूं।

२९. मतिमान् माहण के द्वारा निरूपित धर्म (आचार) को जानो—
समनुज्ञ मुनि समनुज्ञ मुनि को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कंबल या पादप्रोंछन दे, उन्हें देने के लिए निमंत्रित करे, उनके कार्यों में व्यापृत हो। यह सब अत्यन्त आदर प्रदर्शित करता हुआ करे।

—ऐसा मैं कहता हूं।

तृतीय उद्देशक

प्रव्रज्या

३०. कुछ व्यक्ति मध्यम वय में सम्बोधि को प्राप्त कर प्रव्रजित होते हैं।[७]

३१. तीर्थंकरों ने समता में धर्म कहा है—आचार्यों की यह वाणी सुनकर बुद्ध-बोधित, मेधावी उसे हृदयंगम कर [मध्यम वय में प्रव्रजित होते हैं]।[८]

अपरिग्रही

३२. वे कामभोगों के प्रति आसक्ति, प्राणियों के प्राणों का अतिपात और परिग्रह न करते हुए समूचे लोक में [अहिंसक और] अपरिग्रही होते हैं।

३३. जो प्राणियों के प्रति अहिंसक है और पाप-कर्म नहीं करता, वह महान् अग्रंथ (ग्रंथि-मुक्त) कहलाता है।

आहारहेउ-पदं

३४. **ओए जुतिमस्स खेयण्णे उववायं चवणं च णच्चा ।**

३५. **आहारोवचया देहा, परिसह-पभंगुरा ।**

३६. पासहेगे सव्विंदिएहिं परिगिलायमाणेहिं ।

३७. ओए दयं दयइ ।

३८. जे सन्निहाण-सत्थस्स खेयण्णे ।

३९. से भिक्खू कालण्णे बलण्णे मायण्णे खणण्णे विणयण्णे समयण्णे परिग्गहं अममायमाणे कालेणुट्ठाई अपडिण्णे ।

४०. दुहओ छेत्ता नियाइ ।

मुनि के आहार का प्रयोजन

३४. वीतराग और संयम का मर्मज्ञ मुनि जन्म और मृत्यु को जानकर [शरीर की अनित्यता का अनुचिन्तन करे]।[१]

३५. शरीर आहार से उपचित होते हैं और वे कष्ट से भग्न हो जाते हैं।[२]

३६. तुम देखो—[आहार के विना] कुछ मुनि सब इन्द्रियों की शक्ति से हीन हो जाते हैं।[३]

३७. वीतराग मुनि [भूख-प्यास के उत्पन्न होने पर भी] दया का पालन करता है।[४]

३८. जो सन्निधान (सन्निधि, सन्निचय या संग्रह) के शस्त्र (अनिष्टकारक शक्ति) को जानता है, [वह हिंसा आदि दोष-युक्त भोजन का सेवन नहीं करता]।[५]

३९. वह भिक्षु कालज्ञ—भिक्षा-काल को जानने वाला,
बलज्ञ—भिक्षाटन की शक्ति को जानने वाला,
मात्राज्ञ—ग्राह्य वस्तु की मात्रा को जानने वाला,
क्षणज्ञ—अवसर को जानने वाला,
विनयज्ञ—भिक्षाचर्या की आचार-संहिता को जानने वाला,
समयज्ञ—सिद्धान्त को जानने वाला,
परिग्रह पर ममत्व नहीं करने वाला, उचित समय पर अनुष्ठान करने वाला,
और अप्रतिज्ञ (भोजन के प्रति संकल्प-रहित) हो।[६]

४०. वह [राग और द्वेष]—दोनों बन्धनों को छिन्न कर नियमित जीवन जीता है।

अगणि-असेवण-पदं

४१. तं भिक्खुं सीयफास-परिवेवमाण-गायं उवसंकमित्तु गाहावई बूया—"आउसंतो समणा ! णो खलु ते गामधम्मा उव्वाहंति ?" "आउसंतो गाहावई ! णो खलु मम गामधम्मा उव्वाहंति। सीयफासं णो खलु अहं संचाएमि अहियासित्तए। णो खलु मे कप्पति अगणिकायं उज्जालेत्तए वा पज्जालेत्तए वा, कायं आयावेत्तए वा पयावेत्तए वा अण्णेसिं वा वयणाओ।"

४२. सिया से एवं वदंतस्स परो अगणिकायं उज्जालेत्ता पज्जालेत्ता कायं आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा, तं च भिक्खू पडिलेहाए आगमेत्ता आणवेज्जा अणासेवणाए।

—त्ति बेमि।

चउत्थो उद्देसो

उवगरण-विमोक्ख-पदं

४३. जे भिक्खू तिहिं वत्थेहिं परिवुसिते पाय-चउत्थेहिं, तस्स णं णो एवं भवति—चउत्थं वत्थं जाइस्सामि।

४४. से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा।

४५. अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारेज्जा।

अग्नि-काय के सेवन का प्रतिषेध

४१. शीत स्पर्श से प्रकम्पमान शरीर वाले भिक्षु के पास आकर गृहपति कहे—'आयुष्मान् श्रमण ! क्या तुम्हें ग्राम्य-धर्म (इन्द्रिय-वासना) बाधित नहीं कर रहे हैं ?'
'आयुष्मान् गृहपति ! मुझे ग्राम्य-धर्म बाधित नहीं कर रहे हैं। मैं शीत-स्पर्श को सहन करने में समर्थ नहीं हूं; [इसलिए मेरा शरीर प्रकम्पित हो रहा है]।
['तुम अग्नि क्यों नहीं जला लेते' ?]
'मैं अग्नि-काय को उज्ज्वलित और प्रज्वलित नहीं कर सकता और दूसरों के कहने से स्वतः प्रज्वलित अग्नि के द्वारा अपने शरीर को आतापित और प्रतापित नहीं कर सकता।'

४२. भिक्षु के द्वारा ऐसा कहने पर भी कदाचित् वह गृहपति अग्नि-काय को उज्ज्वलित और प्रज्वलित कर उसके शरीर को आतापित और प्रतापित करे, तो भिक्षु आगम की आज्ञा को ध्यान में रखकर, उस गृहपति से कहे—'मैं अग्निकाय का सेवन नहीं कर सकता।'

—ऐसा मैं कहता हूं।

चतुर्थ उद्देशक

उपकरण-विमोक्ष

४३. जो भिक्षु तीन वस्त्र और एक पात्र रखने की मर्यादा में स्थित है, उसका मन ऐसा नहीं होता कि मैं चौथे वस्त्र की याचना करूंगा।''

४४. वह यथा-एषणीय (अपनी-अपनी कल्प-मर्यादा के अनुसार ग्रहणीय)* वस्त्रों की याचना करे।

४५. वह यथा-परिगृहीत वस्त्रों को धारण करे—न छोटा-बड़ा करे और न संवारे।

* वस्त्र की चार एषणाएं हैं। (देखें, आयार-चूला, ५।१६-२१)।

४६. णो धोएज्जा, णो रएज्जा, णो धोय-रत्ताइं वत्थाइं धारेज्जा।

४७. अपलिउंचमाणे गामंतरेसु।

४८. ओमचेलिए।

४९. एयं खु वत्थधारिस्स सामग्गियं।

५०. अह पुण एवं जाणेज्जा—उवाइक्कंते खलु हेमंते, गिम्हे पडिवन्ने, अहापरिजुण्णाइं वत्थाइं परिट्ठवेज्जा, अहापरिजुण्णाइं वत्थाइं परिट्ठवेत्ता—

५१. अदुवा संतरुत्तरे।

५२. अदुवा एगसाडे।

५३. अदुवा अचेले।

५४. लाघवियं आगममाणे।

५५. तवे से अभिसमन्नागए भवति।

५६. जमेयं भगवया पवेदितं, तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया।

सरीर-विमोक्ख-पदं

५७. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—पुट्ठो खलु अहमंसि, नालमहमंसि सीयफासं अहियासित्तए, से वसुमं सव्व-समन्नागय-पण्णाणेणं अप्पाणेणं केइ अकरणाए आउट्टे।

४६. वह उन वस्त्रों को न धोए, न रंगे और न धोए-रंगे हुए वस्त्रों को धारण करे।[१२]

४७. वह ग्रामान्तर जाता हुआ वस्त्रों को छिपाकर न चले।

४८. वह अल्प (अतिसाधारण) वस्त्र धारण करे।[१३]

४९. यह वस्त्रधारी भिक्षु की सामग्री (उपकरण-समूह) है।

५०. भिक्षु यह जाने कि हेमन्त बीत गया है, ग्रीष्म ऋतु आ गई है, तब वह यथा-परिजीर्ण वस्त्रों का विसर्जन करे। उनका विसर्जन कर—[१४]

५१. या एक अन्तर (सूती वस्त्र) और उत्तर (ऊनी वस्त्र) रखे।[१५]

५२. या वह एक-शाटक [रहे]।[१५]

५३. या वह अचेल (वस्त्र-रहित) [हो जाए]।[१५]

५४. वह लाघव का चिन्तन करता हुआ [वस्त्र का क्रमिक विसर्जन करे]।

५५. अल्प वस्त्र वाले मुनि के [उपकरण-अवमौदर्य तथा काय-क्लेश] तप होता है।

५६. भगवान् ने जैसे अल्प-वस्त्रत्व का प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप में जानकर सब प्रकार से, सर्वात्मना (सम्पूर्ण रूप से) समत्व का सेवन करे—किसी की अवज्ञा न करे।×

शरीर-विमोक्ष

५७. जिस भिक्षु को यह लगे—मैं [स्त्री से] आक्रान्त हो गया हूं और मैं इस अनुकूल परीषह को सहन करने में समर्थ नहीं हूं; उस स्थिति में कोई-कोई संयमी भिक्षु अपनी सम्पूर्ण प्रज्ञा और अन्तःकरण को काम-वासना से समेट कर उसका सेवन नहीं करने के लिए उद्यत हो जाता है।[१७,१८]

× मिलाइए ६।६५।

५८. तवस्सिणो हु तं सेयं, जमेगे विहमाइए।

५९. तत्थावि तस्स कालपरियाए।

६०. से वि तत्थ विअंतिकारए।

६१. इच्चेतं विमोहायतणं हियं, सुहं, खमं, णिस्सेयसं, आणुगामियं।
—त्ति बेमि।

पंचमो उद्देसो

उवगरण-विमोक्ख-पदं

६२. जे भिक्खू दोहिं वत्थेहिं परिवुसिते पायतइएहिं, तस्सणं णो एवं भवति—तइयं वत्थं जाइस्सामि।

६३. से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा।

६४. अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारेज्जा।

६५. णो धोएज्जा, णो रएज्जा, णो धोय-रत्ताइं वत्थाइं धारेज्जा।

६६. अपलिउंचमाणे गामंतरेसु।

६७. ओमचेलिए।

५८. उस तपस्वी के लिए वह श्रेय है, जिसका किसी ब्रह्मचर्य-निष्ठ भिक्षु को आचरण करना चाहिए—स्त्री से आक्रान्त हो जाने पर गले में फांसी लेकर प्राण-विसर्जन कर देना चाहिए।[१]

५९. ऐसा करने पर भी उसकी वह काल-मृत्यु होती है।[१]

६०. उस मृत्यु से वह अन्तक्रिया (पूर्ण कर्म-क्षय) करने वाला भी हो सकता है।[१]

६१. यह मरण प्राण-मोह से मुक्त भिक्षुओं का आयतन, हितकर, सुखकर, कालोचित, कल्याणकारी और भविष्य में साथ देने वाला होता है।[१]

—ऐसा मैं कहता हूं।

पंचम उद्देशक

उपकरण-विमोक्ष

६२ जो भिक्षु दो वस्त्र और एक पात्र रखने की मर्यादा में स्थित है, उसका मन ऐसा नहीं होता कि मैं तीसरे वस्त्र की याचना करूंगा।

६३. वह यथा-एषणीय (अपनी-अपनी कल्प-मर्यादा के अनुसार ग्रहणीय) वस्त्रों की याचना करे।

६४. वह यथा-परिगृहीत वस्त्रों को धारण करे—न छोटा-बड़ा करे और न संवारे।

६५. वह उन वस्त्रों को न धोए, न रंगे और न धोए-रंगे हुए वस्त्रों को धारण करे।

६६. वह ग्रामान्तर जाता हुआ वस्त्रों को छिपाकर न चले।

६७. वह अल्प (अतिसाधारण) वस्त्र धारण करे।

६८. एयं खु तस्स भिक्खुस्स सामग्गियं ।

६९. अह पुण एवं जाणेज्जा—उवाइक्कंते खलु हेमंते, गिम्हे पडिवन्ने, अहापरिजुण्णाइं वत्थाइं परिट्ठवेज्जा, अहापरिजुण्णाइं वत्थाइं परिट्ठवेत्ता—

७०. अदुवा एगसाडे ।

७१. अदुवा अचेले ।

७२. लाघवियं आगममाणे ।

७३. तवे से अभिसमन्नागए भवति ।

७४. जमेयं भगवता पवेदितं, तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया ।

गिलाणस्स भत्तपरिण्णा-पदं

७५. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—"पुट्ठो अबलो अहमंसि, नालमहमंसि गिहंतर-संकमणं भिक्खायरिय-गमणाए" से एवं वदंतस्स परो अभिहडं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहट्टु दलएज्जा, से पुव्वामेव आलोएज्जा "आउसंतो ! गाहावती ! णो खलु मे कप्पइ अभिहडे असणे वा पाणे वा खाइमे वा साइमे वा भोत्तए वा, पायए वा, अण्णे वा एयप्पगारे ।"

६८. यह वस्त्रधारी भिक्षु की सामग्री (उपकरण-समूह) है।

६९. भिक्षु यह जाने कि हेमन्त बीत गया है, ग्रीष्म ऋतु आ गई है, तब वह यथा-परिजीर्ण वस्त्रों का विसर्जन करे। उनका विसर्जन कर—

७० या वह एक-शाटक रहे।

७१. या वह अचेल (वस्त्र-रहित) हो जाए।

७२. वह लाघव का चिन्तन करता [वस्त्र का क्रमिक विसर्जन करे]।

७३. अल्प वस्त्र वाले मुनि के [उपकरण-अवमोदर्य तथा काय-क्लेश] तप होता है।

७४. भगवान् ने जैसे अल्प-वस्त्रत्व का प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप में जानकर सब प्रकार से, सर्वात्मना (सम्पूर्ण रूप से) समत्व का सेवन करे—किसी की अवज्ञा न करे।

ग्लान द्वारा भक्त-परिज्ञा

७५. जिस भिक्षु को यह लगे—मैं [रोग से] आक्रान्त होने के कारण दुर्बल हो गया हूं। मैं भिक्षाचर्या के निमित्त नाना घरों में जाने में समर्थ नहीं हूं। इस प्रकार कहने वाले भिक्षु को गृहस्थ अपने घर से अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य लाकर दे।

वह भिक्षु पहले ही आलोचना करे—[यह आहार किस दोष से दूषित है।]

[आलोचना कर कहे—] 'आयुष्मन् गृहपति ! यह घर से लाया हुआ अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य मैं खा-पी नहीं सकता।' इस प्रकार के दूसरे [दोष से दूषित आहार के लिए भी वह गृहपति को प्रतिषेध कर दे]।

वेयावच्चपकप्प-पदं

७६. जस्स णं भिक्खुस्स अयं पगप्पे—अहं च खलु पडिण्णत्तो अपडिण्णत्तेहिं, गिलाणो अगिलाणेहिं, अभिकंख साहम्मिएहिं कीरमाणं वेयावडियं सातिज्जिस्सामि। अहं वा वि खलु अपडिण्णत्तो पडिण्णत्तस्स, अगिलाणो गिलाणस्स, अभिकंख साहम्मिअस्स कुज्जा वेयावडियं करणाए।

७७. आहट्टु पइण्णं आणक्खेस्सामि, आहडं च सातिज्जिस्सामि,
आहट्टु पइण्णं आणक्खेस्सामि, आहडं च णो सातिज्जिस्सामि,
आहट्टु पइण्णं णो आणक्खेस्सामि, आहडं च सातिज्जिस्सामि,
आहट्टु पइण्णं णो आणक्खेस्सामि, आहडं च णो सातिज्जिस्सामि।

७८. लाघवियं आगममाणे।

७९. तवे से अभिसमण्णागए भवति।

८०. जमेयं भगवता पवेदितं, तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया।

सेवा का कल्प

७६. जिस भिक्षु का यह प्रकल्प (समाचारी या मर्यादा) होता है—'मैं ग्लान हूं और मेरे साधर्मिक साधु अग्लान हैं; उन्होंने मेरी सेवा करने के लिए मुझे कहा है, मैंने अपनी सेवा के लिए उनसे अनुरोध नहीं किया है। निर्जरा के उद्देश्य से उन साधर्मिकों के द्वारा की जाने वाली सेवा का मैं अनुमोदन करूंगा।'

अथवा

'साधर्मिक भिक्षु ग्लान है, मैं अग्लान हूं। उन्होंने अपनी सेवा करने के लिए मुझे अनुरोध नहीं किया है, मैंने उनकी सेवा करने के लिए उनसे अनुरोध किया है। निर्जरा के उद्देश्य से उन साधर्मिकों की सेवा करूंगा—पारस्परिक उपकार की दृष्टि से।'

७७. भिक्षु यह प्रतिज्ञा ग्रहण करता है, 'मैं [साधर्मिक भिक्षुओं के लिए] आहार आदि लाऊंगा और [उनके द्वारा] लाया हुआ स्वीकार भी करूंगा।'

अथवा

'मैं [उनके लिए] आहार आदि लाऊंगा, किन्तु [उनके द्वारा] लाया हुआ स्वीकार नहीं करूंगा।'

अथवा

'मैं उनके लिए आहार आदि नहीं लाऊंगा, किन्तु उनके द्वारा लाया हुआ स्वीकार करूंगा।'

अथवा

'मैं न [उनके लिए] आहार आदि लाऊंगा और न [उनके द्वारा] लाया हुआ स्वीकार करूंगा।'

[भिक्षु ग्लान होने पर भी इस प्रकल्प और प्रतिज्ञा का पालन करे। जंघाबल क्षीण होने पर भक्त-प्रत्याख्यान अनशन द्वारा समाधि-मरण करे।]

७८. वह लाघव का चिन्तन करता हुआ [वस्त्र का क्रमिक विसर्जन करे]।

७९. अल्प वस्त्र वाले मुनि के [उपकरण-अवमोदर्य तथा काय-क्लेश] तप होता है।

८०. भगवान् ने जैसे अल्पवस्त्रत्व का प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप में जानकर सब प्रकार से, सर्वात्मना (सम्पूर्ण रूप से) समत्व का सेवन करे—किसी की अवज्ञा न करे।

८१. एवं से अहाकिट्टियमेव धम्मं समहिजाणमाणे संते विरते सुसमाहितलेसे।

८२. तत्थावि तस्स कालपरियाए।

८३. से तत्थ विअंतिकारए।

८४. इच्चेतं विमोहायतणं हियं, सुहं, खमं, णिस्सेयसं, आणुगामियं।

—त्ति बेमि।

छट्ठो उद्देसो

८५. जे भिक्खू एगेण वत्थेण परिवुसिते पायबिइएण, तस्स णो एवं भवइ—बिइयं वत्थं जाइस्सामि।

८६. से अहेसणिज्जं वत्थं जाएज्जा।

८७. अहापरिग्गहियं वत्थं धारेज्जा।

८८. णो धोएज्जा, णो रएज्जा, णो धोय-रत्तं वत्थं धारेज्जा।

८९. अपलिउंचमाणे गामंतरेसु।

९०. ओमचेलिए।

९१. एयं खु वत्थधारिस्स सामग्गियं।

८१. इस प्रकार वह भिक्षु तीर्थंकरों के द्वारा निरूपित धर्म को जानता हुआ शान्त, विरत और प्रशस्त लेश्या (विचारधारा) में नियोजित आत्मा वाला बने।

८२. [ग्लान भिक्षु प्रकल्प और प्रतिज्ञा का पालन करता हुआ यदि प्राण-विसर्जन करता है,] तो उसकी वह काल-मृत्यु है।

८३. उस मृत्यु से वह अन्तक्रिया (पूर्ण कर्मक्षय) करने वाला भी हो सकता है।

८४. यह मरणप्राण-मोह से मुक्त भिक्षुओं का आयतन, हितकर, सुखकर, कालोचित, कल्याणकारी और भविष्य में साथ देने वाला होता है।

—ऐसा मैं कहता हूं।

षष्ठ उद्देशक

उपकरण-विमोक्ष

८५. जो भिक्षु एक वस्त्र और एक पात्र रखने की मर्यादा में स्थित है, उसका मन ऐसा नहीं होता कि मैं दूसरे वस्त्र की याचना करूंगा।

८६. वह यथा-एषणीय (अपनी-अपनी कल्प मर्यादा के अनुसार ग्रहणीय) वस्त्र की याचना करे।

८७. वह यथा-परिगृहीत वस्त्रों को धारण करे—न छोटा-बड़ा करे और न संवारे।

८८. वह उन वस्त्रों को न धोए, न रंगे और न धोए-रंगे वस्त्रों को धारण करे।

८९. वह ग्रामान्तर जाता हुआ वस्त्रों को छिपाकर न चले।

९०. वह अल्प (अतिसाधारण) वस्त्र धारण करे।

९१. यह वस्त्रधारी भिक्षु की सामग्री (उपकरण-समूह) है।

९२. अह पुण एवं जाणेज्जा—उवाइक्कंते खलु हेमंते, गिम्हे पडिवन्ने, अहापरिजुण्णं वत्थं परिट्ठवेज्जा, अहापरिजुण्णं वत्थं परिट्ठवेत्ता—

९३. अदुवा अचेले।

९४. लाघवियं आगममाणे।

९५. तवे से अभिसमण्णागए भवति।

९६. जमेयं भगवता पवेदितं, तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया।

एगत्तभावणा-पदं

९७. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ—एगो अहमंसि, न मे अत्थि कोइ, न याहमवि कस्सइ, एवं से एगागिणमेव अप्पाणं समभिजाणिज्जा।

९८. लाघवियं आगममाणे।

९९. तवे से अभिसमन्नागए भवइ।

१००. जमेयं भगवता पवेदितं, तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया।

अणासायलाघव-पदं

१०१. से भिक्खू वा भिक्खुणी वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारेमाणे णो वामाओ हणुयाओ दाहिणं हणुयं संचारेज्जा आसाएमाणे, दाहिणाओ वा हणुयाओ वामं हणुयं णो संचारेज्जा आसाएमाणे, से अणासायमाणे।

९२. भिक्षु यह जाने कि हेमन्त बीत गया है, ग्रीष्म ऋतु आ गई है, तब वह यथा-परिजीर्ण वस्त्रों का विसर्जन करे। उनका विसर्जन कर—

९३. वह अचेल (वस्त्र-रहित) हो जाए।

९४. वह लाघव का चिन्तन करता हुआ [वस्त्र का विसर्जन] करे।

९५. वस्त्र-विसर्जन करने वाले मुनि के [उपकरण-अवमौदर्य तथा काय-क्लेश] तप होता है।

९६. भगवान् ने जैसे अल्प-वस्त्रत्व का प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप में जानकर सब प्रकार से, सर्वात्मना (सम्पूर्ण रूप से) समत्व का सेवन करे—किसी की अवज्ञा न करे।

एकत्व भावना

९७. जिस भिक्षु को ऐसा अध्यवसाय (बुद्धि या निश्चय) होता है—'मैं अकेला हूं, मेरा कोई नहीं, मैं भी किसी का नहीं हूं; इस प्रकार वह भिक्षु अपनी आत्मा को एकाकी ही अनुभव करे।

९८. वह लाघव का चिन्तन करता हुआ [उपाधि-विसर्जन का चिन्तन करे]।

९९. उसे [एकत्व भावना का] तप होता है।

१००. भगवान् ने जैसे एकत्व भावना का प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप में जानकर सब प्रकार से, सर्वात्मना (सम्पूर्ण रूप से) समत्व का सेवन करे—किसी की अवज्ञा न करे।

अनास्वाद-लाघव

१०१. भिक्षु या भिक्षुणी अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य का सेवन करती हुई बाएं जबड़े से दाहिने जबड़े में न ले जाए, आस्वाद लेती हुई तथा दाएं जबड़े से बाएं जबड़े में न ले जाए, आस्वाद लेती हुई। वह अनास्वाद वृत्ति से आहार करे।

१०२. लाघवियं आगममाणे,

१०३. तवे से अभिसमन्नागए भवइ।

१०४. जमेयं भगवता पवेइयं, तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया।

संलेहणा-पदं

१०५. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—से गिलामि च खलु अहं इमंसि समए इमं सरीरगं अणुपुव्वेण परिवहित्तए, से आणुपुव्वेणं आहारं संवट्टेज्जा, आणुपुव्वेणं आहारं संवट्टेत्ता,
कसाए पयणुए किच्चा, समाहियच्चे फलगावयट्ठी,
उट्ठाय भिक्खू अभिनिव्वुडच्चे।

इंगिणिमरण-पदं

१०६. अणुपविसित्ता गामं वा, णगरं वा, खेडं वा, कब्बडं वा, मडंबं वा, पट्टणं वा, दोणमुहं वा, आगरं वा, आसमं वा, सण्णिवेसं वा, णिगमं वा, रायहाणिं वा, तणाइं जाएज्जा, तणाइं जाएत्ता, से तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा, एगंतमवक्कमेत्ता अप्पंडे अप्प-पाणे अप्प-बीए अप्प-हरिए अप्पोसे अप्पोदए अप्पुत्तिंग-पणग-दग-मट्टिय-मक्कडासंताणए, पडिलेहिय-पडिलेहिय, पमज्जिय-पमज्जिय तणाइं संथरेज्जा, तणाइं संथरेत्ता एत्थ वि समए इत्तरियं कुज्जा।

१०२. वह लाघव का चिन्तन करता हुआ [स्वाद का विसर्जन करे]।

१०३. अस्वाद-लाघव वाले मुनि के [स्वाद-अवमौदर्य तथा काय-क्लेश] तप होता है।

१०४. भगवान् ने जैसे स्वाद-लाघव का प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप में जान-कर, सब प्रकार से, सर्वात्मना (सम्पूर्ण रूप से) समत्व का सेवन करे—किसी की अवज्ञा न करे।

संलेखना

१०५. जिस भिक्षु को ऐसा संकल्प होता है—
'मैं इस समय [समयोचित क्रिया करने के लिए] इस शरीर को वहन करने में ग्लान (असमर्थ) हो रहा हूं।' वह भिक्षु क्रमशः आहार का संवर्तन (संक्षेप) करे। आहार का संक्षेप कर कषायों (क्रोध, मान, माया और लोभ) को कृश करे। कषायों को कृश कर समाधिपूर्ण भाव वाला, फलक की भांति शरीर और कषाय—दोनों ओर से कृश बना हुआ भिक्षु समाधि-मरण के लिए उत्थित होकर शरीर को स्थिर-शांत करे।[१५]

इंगिणिमरण

१०६. [वह संलेखना करने वाला भिक्षु शारीरिक शक्ति क्षीण होने पर] गांव, नगर, खेड़, कर्बट, मडंब, पत्तन, द्रोणमुख, आकर, आश्रम, सन्निवेश, निगम या राजधानी में प्रवेश कर घास की याचना करे। उसे प्राप्त कर गांव आदि के बाहर एकान्त में चला जाए। वहां जाकर जहां कीट-अण्ड, जीव-जन्तु, बीज, हरित, ओस, उदक, चींटियों के बिल, फफूंदी, दलदल या मकड़ी के जाले न हों, वैसे स्थान को देखकर, उसका प्रमार्जन कर, घास का बिछौना करे। बिछौना कर उस समय 'इत्वरिक अनशन' करे।[१६]

१०७. तं सच्चं सच्चावादी ओए तिण्णे छिण्ण-कहंकहे आतीतट्ठे अणातीते **वेच्चाण भेऊरं कायं,** संविहूणिय विरूवरूवे परिसहोवसग्गे अस्सिं विस्सं भइत्ता भेरवमणुचिण्णे।

१०८. तत्थावि तस्स कालपरियाए।

१०९. से तत्थ विअंतिकारए।

११०. इच्चेतं विमोहायतणं हियं, सुहं, खमं, णिस्सेयसं, आणुगामियं।
—त्ति बेमि।

सत्तमो उद्देसो

उवगरण-विमोक्ख-पदं

१११. जे भिक्खू अचेले परिवुसिते, तस्स णं एवं भवति—चाएमि अहं तणफासं अहियासित्तए, सीयफासं अहियासित्तए, तेउफासं अहियासित्तए, दंस-मसगफासं अहियासित्तए, एगतरे अण्णतरे विरूवरूवे फासे अहियासित्तए, हिरिपडिच्छादणं चहं णो संचाएमि अहियासित्तए, एवं से कप्पति कडिबंधणं धारित्तए।

११२. अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति, सीयफासा फुसंति, तेउफासा फुसंति, दंस-मसगफासा फुसंति, एगयरे अण्णयरे विरूवरूवे फासे अहियासेति अचेले।

१०७. वह अनशन सत्य है। उसे सत्यवादी [प्रतिज्ञा का निर्वाह करने वाला], वीतराग, संसार-समुद्र का पार पाने वाला, 'अनशन का निर्वाह होगा या नहीं' इस संशय से मुक्त, सर्वथा कृतार्थ, परिस्थिति से अप्रभावित, शरीर को क्षणभंगुर जानकर, नाना प्रकार के परीषहों और उपसर्गों को सहकर 'जीव पृथक् है, शरीर पृथक् है'—इस भेद-विज्ञान की भावना तथा भैरव अनशन का अनुपालन करता हुआ [क्षुब्ध न हो]।

१०८. ऐसा करने पर भी उसकी वह काल-मृत्यु होती है।

१०९. उस मृत्यु से वह अन्तःक्रिया (पूर्ण कर्म-क्षय) करने वाला भी हो सकता है।

११०. यह मरण प्राण-मोह से मुक्त भिक्षुओं का आयतन, हितकर, सुखकर, कालोचित, कल्याणकारी और भविष्य में साथ देने वाला होता है।

—ऐसा मैं कहता हूं।

सप्तम उद्देशक

उपकरण-विमोक्ष

११४. तवे से अभिसमन्नागए भवति ।

११५. जमेयं भगवता पवेदितं, तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया ।

वेयावच्चपकप्प-पदं

११६. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति —अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहट्टु दलइस्सामि, आहडं च सातिज्जिस्सामि ।

११७. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहट्टु दलइस्सामि, आहडं च णो सातिज्जिस्सामि ।

११८. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहट्टु नो दलइस्सामि, आहडं च सातिज्जिस्सामि ।

११९. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहट्टु नो दलइस्सामि, आहडं च णो सातिज्जिस्सामि ।

१२०. अहं च खलु तेण अहाइरित्तेणं अहेसणिज्जेणं अहापरिग्गहिएणं असणेण वा पाणेण वा खाइमेण वा साइमेण वा अभिकंख साहम्मियस्स कुज्जा वेयावडियं करणाए ।

१२१. अहं वावि तेण अहातिरित्तेणं अहेसणिज्जेणं अहापरिग्गहिएणं असणेण वा पाणेण वा खाइमेण वा साइमेण वा अभिकंख साहम्मिएहिं कीरमाणं वेयावडियं सातिज्जिस्सामि ।

११४. अचेल मुनि के [उपकरण-अवमौदर्य तथा काय-क्लेश] तप होता है।

११५. भगवान् ने जैसे अचेलत्व का प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप में जानकर सब प्रकार से, सर्वात्मना (सम्पूर्ण रूप से) समत्व का सेवन करे—किसी की अवज्ञा न करे।

सेवा का कल्प

११६. जिस भिक्षु को ऐसा संकल्प होता है—'मैं दूसरे भिक्षुओं को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य लाकर दूंगा और उनके द्वारा लाया हुआ स्वीकार करूंगा।'

११७. जिस भिक्षु को ऐसा संकल्प होता है—'मैं दूसरे भिक्षुओं को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य लाकर दूंगा, किन्तु उनके द्वारा लाया हुआ स्वीकार नहीं करूंगा।'

११८. जिस भिक्षु को ऐसा संकल्प होता है—'मैं दूसरे भिक्षुओं को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य लाकर नहीं दूंगा, किन्तु उनके द्वारा लाया हुआ स्वीकार करूंगा।'

११९. जिस भिक्षु को ऐसा संकल्प होता है—'मैं दूसरे भिक्षुओं को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, लाकर न दूंगा और न उनके द्वारा लाया हुआ स्वीकार करूंगा।'

१२०. 'मैं अपनी आवश्यकता से अधिक, अपनी कल्प-मर्यादा के अनुसार ग्रहणीय तथा अपने लिए लाए हुए अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य से निर्जरा के उद्देश्य से उन साधर्मिकों की सेवा करूंगा—पारस्परिक उपकार की दृष्टि से।'

१२१. 'मैं भी साधर्मिकों के द्वारा अपनी आवश्यकता से अधिक, अपनी कल्प-मर्यादा के अनुसार ग्रहणीय तथा अपने लिए लाए हुए अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य से निर्जरा के उद्देश्य से उनके द्वारा की जाने वाली सेवा का अनुमोदन करूंगा।'

१२२. लाघवियं आगममाणे ।

१२३. तवे से अभिसमण्णागए भवति ।

१२६. जमेयं भगवता पवेदितं, तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया ।

पाओवगमण-पदं

१२५. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—से गिलामि च खलु अहं इमम्मि समए इमं सरीरगं अणुपुव्वेण परिवहित्तए, से आणुपुव्वेणं आहारं संवट्टेज्जा, आणुपुव्वेणं आहारं संवट्टेत्ता,
कसाए पयणुए किच्चा समाहिअच्चे फलगावयट्ठी,
उट्ठाय भिक्खू अभिणिव्वुडच्चे ।

१२६. अणुपविसित्ता गामं वा, णगरं वा, खेडं वा, कब्बडं वा, मडंबं वा, पट्टणं वा, दोणमुहं वा, आगरं वा, आसमं वा, सण्णिवेसं वा, णिगमं वा रायहाणिं वा, तणाइं जाएज्जा, तणाइं जाएत्ता से तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा, एगंतमवक्कमेत्ता अप्पंडे अप्प-पाणे अप्प-बीए अप्प-हरिए अप्पोसे अप्पोदए अप्पुत्तिंग-पणग-दग-मट्टिय-मक्कडासंताणए, पडिलेहिय-पडिलेहिय पमज्जिय-पमज्जिय तणाइं संथरेज्जा, तणाइं संथरेत्ता एत्थ वि समए कायं च, जोगं च, इरियं च, पच्चक्खाएज्जा ।

धव का चिन्तन करता हुआ [सेवा का प्रकल्प करे]।

का प्रकल्प करने वाले मुनि के [अवमौदर्य तथा वैयावृत्य] तप है।

नु ने जैसे सेवा के प्रकल्पों का प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप में र सब प्रकार से, सर्वात्मना [सम्पूर्ण रूप से] समत्व का सेवन करे— की अवज्ञा न करे।

त अनशन

भिक्षु को ऐसा संकल्प होता है—'मैं इस समय [आवश्यक क्रिया के लिए] इस शरीर को वहन करने में ग्लान (असमर्थ) हो रहा वह भिक्षु क्रमशः आहार का संवर्तन (संक्षेप) करे। आहार का संक्षेप कषायों (क्रोध, मान, माया और लोभ) को कृश करे। कषायों को कर समाधिपूर्ण भाव वाला, फलक की भांति शरीर और कषाय— और से कृश बना हुआ भिक्षु समाधि-मरण के लिए उत्थित होकर र को स्थिर-शान्त करे।

१२७. तं सच्चं सच्चावादी ओए तिण्णे छिन्न-कहंकहे आतीतट्ठे अणातीते वेच्चाण भेउरं कायं, संविहूणिय विरूवरूवे परिसहोवसग्गे अस्सिं विस्सं भइत्ता भेरवमणुचिण्णे।

१२८. तत्थावि तस्स कालपरियाए।

१२९. से तत्थ विअंतिकारए।

१३०. इच्चेतं विमोहायतणं हियं, सुहं, खमं, णिस्सेयसं, आणुगामियं।
—त्ति बेमि।

अट्ठमो उद्देसो

अणसण-पदं

१. आणुपुव्वी-विमोहाइं, जाइं धीरा समासज्ज।
वसुमंतो मइमंतो, सव्वं णच्चा अणेलिसं॥

भत्तपच्चक्खाण-पदं

२. दुविहं पि विदित्ताणं, बुद्धा धम्मस्स पारगा।
अणुपुव्वीए संखाए, आरंभाओ तिउट्टति॥

१२७. यह अनशन सत्य है। उसे सत्यवादी (प्रतिज्ञा का निर्वाह करने वाला), वीतराग, संसार-समुद्र का पार पाने वाला, 'अनशन का निर्वाह होगा या नहीं', इस संशय से मुक्त, सर्वथा कृतार्थ, परिस्थिति से अप्रभावित, शरीर को क्षणभंगुर जान कर, नाना प्रकार के परीषहों और उपसर्गों को सह कर, 'जीव पृथक् है, शरीर पृथक् है'—इस भेद-विज्ञान की भावना तथा भैरव अनशन का अनुपालन करता हुआ [क्षुब्ध न हो]।

१२८. ऐसा करने पर भी उसकी वह काल-मृत्यु होती है।

१२९. उस मृत्यु से वह अन्तक्रिया (पूर्ण कर्म-क्षय) करने वाला भी हो सकता है।

१३०. यह मरण प्राण-मोह से मुक्त भिक्षुओं का आयतन, हितकर, सुखकर, कालोचित, कल्याणकारी और भविष्य में साथ देने वाला होता है।

—ऐसा मैं कहता हूं।

अष्टम उद्देशक

अनशन

१. धीर, संयमी और ज्ञानी भिक्षु साधना के क्रम में प्राप्त होने वाले अनशन (आनुपूर्वी-विमोक्ष या अव्याघात मरण) का उपयुक्त समय समझते हैं, वे बाल-मरण से भिन्न तीनों (भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिनिमरण और प्रायोपगमन) अनशनों के विधान का ज्ञान करते हैं।[१]

भक्त-प्रत्याख्यान

३. कसाए पयणुए किच्चा, अप्पाहारो तितिक्खए।
अह भिक्खू गिलाएज्जा, आहारस्सेव अंतियं ॥

४. जीवियं णाभिकंखेज्जा, मरणं णोवि पत्थए ।
दुहतोवि ण सज्जेज्जा, जीविते मरणे तहा ॥

५. मज्झत्थो णिज्जरापेही, समाहिमणुपालए ।
अंतो बहिं विउसिज्ज, अज्झत्थं सुद्धमेसए ॥

६. जं किंचुवक्कमं जाणे, आउक्खेमस्स अप्पणो।
तस्सेव अंतरद्धाए, खिप्पं सिक्खेज्ज पंडिए ॥

७. गामे वा अदुवा रण्णे, थंडिलं पडिलेहिया।
अप्पपाणं तु विण्णाय, तणाइं संथरे मुणी ॥

३. वह कषाय को कृश तथा आहार को अल्प कर [अल्पाहारता के कारण होने वाले कष्टों को] सहन करता है, आहार की अल्पता करते-करते वह मरणासन्न काल में ग्लान हो जाता है।[१०]

४. वह [ग्लान अवस्था में] जीवन की आकांक्षा न करे, मरण की इच्छा न करे। वह जीवन और मरण—दोनों में भी आसक्त न बने।

५. वह मध्यस्थ और निर्जरादर्शी भिक्षु समाधि का अनुपालन करे। [राग-द्वेष आदि] आन्तरिक और [शरीर आदि] बाह्य वस्तुओं का विसर्जन कर शुद्ध अध्यात्म की एषणा करे।

६. अबाध रूप से चल रहे अपने संलेखनाकालीन जीवन में आकस्मिक बाधा जान पड़े, तो उस संलेखना-काल के मध्य में ही पण्डित भिक्षु आहार का प्रत्याख्यान करे।

७. ग्राम में अथवा अरण्य में स्थण्डिल (जीव-जन्तु-रहित स्थान) को देखकर घास का बिछौना करे।

८. अणाहारो तुअट्टेज्जा, पुट्ठो तत्थ हियासए।
णातिवेलं उवचरे, माणुस्सेहिं वि पुट्ठओ॥

६. संसप्पगा य जे पाणा, जे य उड्ढमहेचरा।
भुंजंति मंस-सोणियं, ण छणे ण पमज्जए॥

१०. पाणा देहं विहिंसंति, ठाणाओ ण विउब्भमे।
आसवेहिं विवित्तेहिं, तिप्पमाणेहियासए॥

११. गंथेहिं विवित्तेहिं, आउकालस्स पारए।

इंगिणिमरण-पदं

पग्गहियतरगं चेयं, दवियस्स वियाणतो॥

१२. अयं से अवरे धम्मे, णायपुत्तेण साहिए।
आयवज्जं पडीयारं, विजहिज्जा तिहा तिहा॥

८. वह [जल-वर्जित या जल-सहित] आहार का प्रत्याख्यान कर शान्त भाव से लेट जाए। उस स्थिति में [भूख, प्यास या अन्य परीषहों से] स्पृष्ट होने पर उन्हें सहन करे। मनुष्य-कृत अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों से स्पृष्ट होने पर भी मर्यादा का अतिक्रमण न करे।

९. संसर्पण करने वाली [चींटी आदि], आकाशचारी [गीध आदि] तथा बिलवासी (सर्प आदि) शरीर का मांस खाएं, [मच्छर आदि] रक्त पीएं, तब भी उनकी हिंसा न करे और रजोहरण से उनका प्रमार्जन (निवारण) न करे।

१०. [वह यह भावना करे—] 'ये प्राणी मेरे शरीर का विघात कर रहे हैं, [किन्तु मेरे आत्म-गुणों का विघात नहीं कर रहे हैं]।' उनसे त्रस्त होकर स्थान (या आत्म-भाव) से विचलित न हो। आश्रवों के पृथक् हो जाने के कारण [अमृत से अभिषिक्त की भांति] तृप्ति का अनुभव करता हुआ उन उपसर्गों को सहन करे।

११. उसकी ग्रन्थियां खुल जाती हैं और वह अनशन की प्रतिज्ञा का पार पा जाता है।

इंगित मरण

यह (इंगिनि मरण अनशन) [भक्त-प्रत्याख्यान की अपेक्षा] उच्चतर है। इसे अतिशय ज्ञानी (कम से कम नव पूर्वधर*) और संयमी भिक्षु ही स्वीकार करते हैं।

१२. भगवान महावीर ने इंगिनिमरण अनशन का आचार-धर्म अन्य अनशन से भिन्न प्रतिपादित किया है। इस अनशन में भिक्षु [नियमित स्थान में स्वयं] उठना, बैठना या चंक्रमण कर सकता है, किन्तु उठने, बैठने और चंक्रमण करने में] दूसरे का सहारा न ले—मनसा, वाचा, कर्मणा दूसरे का सहारा न ले, न लिवाए और न लेने वाले का अनुमोदन करे।

१३. हरिएसु ण णिवज्जेज्जा, थंडिलं मुणिआ सए।
विउसिज्ज अणाहारो, पुट्ठो तत्थहियासए॥

१२. इंदिएहिं गिलायंते, समियं साहरे मुणी।
तहावि से अगरिहे, अचले जे समाहिए॥

१५. अभिक्कमे पडिक्कमे, संकुचए पसारए।
काय-साहारणट्ठाए , एत्थं वावि अचेयणे॥

१६. परक्कमे परिकिलंते, अदुवा चिट्ठे अहायते।
ठाणेण परिकिलंते, णिसिएज्जा य अंतसो॥

१७. आसीणे णेलिसं मरणं, इंदियाणि समीरए।
कोलावासं समासज्ज, वितहं पाउरेसए॥

१८. जओ वज्जं समुप्पज्जे, ण तत्थ अवलंबए।
ततो उक्कसे अप्पाणं, सव्वे फासेहियासए॥

पाओवगमण-पदं

१९. अयं चायततरे सिया, जो एवं अणुपालए।
सव्वगायणिरोधेवि , ठाणातो ण विउब्भमे॥

१३. वह हरियाली पर न सोए; स्थण्डिल (हरित और जीव-जन्तु-रहित स्थान) को देखकर वहां सोए। वह अनाहार भिक्षु [शरीर आदि का] विसर्जन कर, [भूख, प्यास या अन्य परीषहों से] स्पृष्ट होने पर उन्हें सहन करे।

१४. इन्द्रियों से ग्लान (श्रान्त) होने पर वह मुनि मात्रा-सहित [हाथ-पैर आदि का] संकोच (परिवर्तन) करे। जो अचल और समाहित होता है, वह ऐसा करता हुआ धर्म का अतिक्रमण नहीं करता।

१५. वह [बैठा या लेटा हुआ श्रान्त हो जाए, तब] शरीर-संधारण के लिए गमन और आगमन (अभिक्रमण और प्रतिक्रमण) करे, [हाथ, पैर आदि को] सिकोड़े और फैलाए। [यदि शक्ति हो,] तो इस अनशन में भी अचेतन की भांति निश्चेष्ट लेटा रहे।

१६. वह बैठा-लेटा श्रान्त हो जाए, तो चंक्रमण करे अथवा सीधा खड़ा हो जाए। खड़ा-खड़ा श्रान्त हो जाए, तो अन्त में बैठ जाए।

१७. इस असाधारण मरण की उपासना करता हुआ वह इन्द्रियों का सम्यग् प्रयोग करे—इष्ट और अनिष्ट विषयों में राग-द्वेष न करे। घुन और दीमक वाले काष्ठ-स्तम्भ का सहारा न ले। घुन आदि से रहित और निश्छिद्र (प्रकट) काष्ठ-स्तम्भ की एषणा करे।

१८. जिसका सहारा लेने से वर्ज्य (कर्म) उत्पन्न हो, उसका सहारा न ले। उससे अपने-आप को दूर रखे; सब स्पर्शों को सहन करे।

प्रायोपगमन

१९. यह (प्रायोपगमन) अनशन इंगित मरण से उत्तमतर है; जो इस विधि से [इसका] अनुपालन करता है, वह समूचे शरीर के अकड़ जाने पर भी अपने स्थान से चलित न हो।

२०. अयं से उत्तमे धम्मे, पुव्वट्ठाणस्स पग्गहे।
अचिरं पडिलेहित्ता, विहरे चिट्ठ माहणे॥

२१. अचित्तं तु समासज्ज, ठावए तत्थ अप्पगं।
वोसिरे सव्वसो कायं, ण मे देहे परीसहा॥

२२. जावज्जीवं परीसहा, उवसग्गा य संखाय।
संवुडे देहभेयाए, इति पण्णेहियासए॥

२३. भेउरेसु न रज्जेज्जा, कामेसु बहुतरेसु वि।
इच्छा-लोभं ण सेवेज्जा, सुहुमं वण्णं सपेहिया॥

२४. सासएहिं णिमंतेज्जा, दिव्वं मायं ण सद्दहे॥
तं पडिबुज्झ माहणे, सव्वं नूमं विधूणिया॥

२५. सव्वट्ठेहिं अमुच्छिए, आउकालस्स पारए।
तितिक्खं परमं णच्चा, विमोहण्णतरं हितं॥

—त्ति बेमि।

२०. यह उत्तम धर्म है। इसमें पूर्व स्थान—इंगितमरण और भक्त-प्रत्याख्यान—का आचार है ही। सर्वथा निश्चल रहना इसका विशेष धर्म है। [प्रायोपगमन अनशन स्वीकार करने वाला] भिक्षु जीव-जन्तु-रहित स्थान को देख कर वहां निश्चेष्ट* होकर रहे।

२१. अचित्त [फलक, स्तम्भ आदि को] प्राप्त कर, वहां अपने-आप को स्थापित करे। शरीर को सब प्रकार से विसर्जित कर दे। [परीषह उत्पन्न होने पर, वह यह भावना करे—] 'यह शरीर ही मेरा नहीं है, तब मुझे परीषह (उपद्रव) [कहां होगा] ?'

२२. जब तक जीवन है, तब तक ये परीषह और उपसर्ग होते हैं, यह जानकर शरीर को विसर्जित करने वाला और शरीर-भेद के लिए [समुद्यत] प्राज्ञ भिक्षु उन्हें समभाव से सहन कर ले।

२३. इस जगत् में शब्द आदि प्रचुर काम होते हैं। किन्तु वे सब क्षणभंगुर हैं। [इसलिए] वह उनमें रक्त न हो; इच्छा-लोभ का भी सेवन न करे। संयम बहुत सूक्ष्म होता है। उसका दर्शन करने वाला ऐसा न करे।

२४. कोई देव दिव्य भोगों के लिए निमन्त्रित करे, तब भिक्षु उस देव-माया पर श्रद्धा न करे। वह सब प्रकार की माया (वंचना के आचरण) को जानकर उस माया को समझ ले।

२५. दिव्य और मानुषी—सब प्रकार के विषयों में अमूर्च्छित और अनासक्त रह जीवन के पार तक पहुंचने वाला भिक्षु तितिक्षा को परम जानकर, हितकर विमोक्ष—भक्त-प्रत्याख्यान, इंगितमरण और प्रायोपगमन—में से किसी एक का अवलम्बन ले।

टिप्पण

सूत्र—१

१. जिसके दर्शन, वेश और समाचारी का अनुमोदन किया जा सके, वह समनुज्ञ और जिसके दर्शन, वेश और समाचारी का अनुमोदन न किया जा सके, वह असमनुज्ञ होता है। एक जैन मुनि के लिए दूसरा जैन मुनि समनुज्ञ तथा अन्य दार्शनिक भिक्षु असमनुज्ञ होता है।

मुनि के लिए यह कल्प निर्धारित है कि वह साधर्मिक मुनि को ही आहार दे सकता है और उससे ले सकता है। साधर्मिक पार्श्वस्थ आदि शिथिल आचार वाला मुनि भी हो सकता है। मुनि उन्हें न आहार दे सकता है और न उनसे ले सकता है। इसलिए साधर्मिक के साथ दो विशेषण और जोड़े जाते हैं (**निसीहज्झयणं**, २।४४)—सांभोगिक और समनुज्ञ। कल्पमर्यादा के अनुसार जिनके साथ आहार आदि का सम्बन्ध होता है, वह सांभोगिक और जिनकी सामाचारी समान होती है, वह समनुज्ञ कहलाता है। **निसिहज्झयणं** (१५।७६-९७) में अन्य तीर्थिक, गृहस्थ और पार्श्वस्थ आदि को अशन, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पाद-प्रोंछन देने का प्रायश्चित बतलाया गया है।

सूत्र—४

२. प्राणियों के प्राणों का अपहरण करना अदत्त है। प्राण-वध करने वाला केवल हिंसा का ही दोषी नहीं है, साथ-साथ अदत्त का भी दोषी है। हिंसा का सम्बन्ध अपनी भावना से है, किन्तु प्राणी अपने प्राणों के अपहरण की अनुमति नहीं देते; इसलिए अदत्त का सम्बन्ध म्रियमाण प्राणियों से भी है। (मिलाइए, **आयारो** १।५७।)

सूत्र—७

३. 'लोक वास्तविक है और 'लोक वास्तविक नहीं है'—ये दोनों एकान्तवाद हैं। वास्तविकता को स्वीकार किए बिना अवास्तविकता को प्रमाणित नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार अवास्तविकता को स्वीकार किए बिना वास्तविकता को

प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

शाश्वतिकता और अशाश्वतिकता दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय से इन्हें जाना जा सकता है। शाश्वतिकता का बोध द्रव्यार्थिक नय से और अशाश्वतिकता का बोध पर्यायार्थिक नय से होता है।

एकान्त-दृष्टि वाले ये सारे वाद परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं।

सूत्र—१०

८. 'रागदोसकरो वादो'—वाद प्रायः राग, द्वेष उत्पन्न करता है, अतः जहां भी राग-द्वेष का प्रसंग आए, वहां मुनि मौन हो जाए।

सूत्र—११-१३

९. हिंसा का अतिक्रमण कर जीवन जीना विवेक है। यह व्याख्या का एक नय है। चूर्णि और टीका में इन तीन सूत्रों की व्याख्या दूसरे नय से की गई है। अन्यतीर्थिक भिक्षुओं द्वारा निमन्त्रित होने पर भिक्षु कहे—'आपके दर्शन में पचन-पाचन आदि की हिंसा सम्मत है। मेरे दर्शन में वह सम्मत नहीं है। अतः उससे बचना मेरा विवेक है।'

सूत्र—१४

१०. कुछ साधक 'ग्राम में धर्म होता है', यह निरूपित करते थे। कुछ साधक यह निरूपित करते थे कि 'अरण्य में धर्म होता है।' इस विषय में जिज्ञासा प्रस्तुत की, तब आचार्य ने बताया कि धर्म का आधार आत्मा है। ग्राम और अरण्य उसके आधार नहीं हैं। इसलिए धर्म न ग्राम में होता है, न अरण्य में। वह आत्मा में होता है। वास्तव में आत्मा का स्वभाव ही धर्म है।

पूज्यपाद देवनन्दी ने इस आशय का [illegible] निरूपण किया है—

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम्।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः॥

वर्ष से साठ वर्ष तक तथा तृतीय अवस्था इकसठ वर्ष से जीवन-पर्यन्त की होती है। परिव्राजक बीस वर्ष से कम अवस्था वाले को प्रव्रजित नहीं करते थे। वैदिक लोग अन्तिम अवस्था में संन्यास ग्रहण करते थे। बुद्ध ने बीस वर्ष से कम उम्र वालों को उपसम्पदा (दीक्षा) देने का निषेध किया है (विनय-पिटक, भिक्खु पातिमोख, पाचित्तिय ६५), किन्तु कौआ उड़ाने में समर्थ पन्द्रह वर्ष से कम उम्र के बच्चे को श्रामणेर बनाने की अनुमति दी है (विनय-पिटक, महावग्ग, महास्कन्धक, १।३।८)। किन्तु जैन परम्परा में दीक्षा की योग्यता आठ वर्ष और तीन मास की अवस्था के बाद स्वीकृत थी।

सूत्र—१७

६. बौद्ध भिक्षु स्वयं भोजन नहीं पकाते थे, किन्तु दूसरों से पकवाते थे। विहार आदि का निर्माण करते और करवाते थे, मांस खाते थे और उसमें दोष नहीं मानते थे। कुछ भिक्षु संघ के निमित्त हिंसा करने में दोष नहीं मानते थे। कुछ भिक्षु वनस्पतिकाय की हिंसा नहीं करते थे। कुछ भिक्षु औद्देशिक आहार नहीं लेते थे, किन्तु सचित्त जल पीते थे। कुछ भिक्षु सचित्त जल पीते थे, किन्तु उससे स्नान नहीं करते थे। प्रस्तुत सूत्र इन परम्पराओं की ओर इंगित करता है।

सूत्र—३०

७. प्रथम और चरम अवस्था में भी प्रव्रज्या ली जाती थी। किन्तु, अधिकांशतः प्रव्रज्या मध्यम वय में ली जाती थी। भुक्तभोगी मनुष्य का भोग-सम्बन्धी कुतूहल निवृत्त हो जाता है; अतः वह वैराग्य-मार्ग में सुखपूर्वक ठहर सकता है। उसका ज्ञान पटुतर हो जाता है। इसलिए मध्यम अवस्था का उल्लेख किया गया है। प्रायः गणधर मध्यम अवस्था में प्रव्रजित हुए थे। भगवान् महावीर भी प्रथम अवस्था पार कर प्रव्रजित हुए थे।

सूत्र—३१

८. सम्बोधि-प्राप्त मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं—स्वयंसंबुद्ध, प्रत्येकबुद्ध और बुद्ध-बोधित। यह सूत्र बुद्ध-बोधित व्यक्ति की अपेक्षा से है।

सूत्र—३४-३७

९. शरीर अनित्य है, तब मुनि को आहार क्यों करना चाहिए? यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है। इसके उत्तर में सूत्रकार ने बताया—कर्म-मुक्ति के लिए शरीर-धारण आवश्यक है और शरीर-धारण के लिए आहार आवश्यक है। अतः आहार का निषेध नहीं किया जा सकता। किन्तु आहार करने में अहिंसा की

अनिवार्यता बतलाई गई है।

सूत्र—३८-३९

१०. चूर्णिकार और वृत्तिकार ने सन्निधान का अर्थ कर्म किया है। किन्तु यह प्रकरणानुसारी नहीं लगता। यहां सन्निधान का अर्थ 'भोजन आदि पदार्थों का संग्रह' होना चाहिए। 'लोक-विजय' के पांचवें उद्देशक (२।१०८-१११) में इस विषय का विस्तृत वर्णन है। यहां उसी का संक्षेप है। उसके सन्दर्भ में सन्निधान का यही अर्थ घटित होता है।

सूत्र—४३

११. भिक्षु के लिए तीन शाटक (उत्तरीय, प्रावरण या 'पछेवड़ी') रखने का विधान है। उनमें दो सूती और एक ऊनी होना चाहिए। उन्हें ओढ़ने की विधि यह रही है—पहले सूती वस्त्र ओढ़ना चाहिए, फिर सर्दी लगे, तो फिर सूती वस्त्र ओढ़ना चाहिए। इस पर भी सर्दी लगे, तो ऊनी वस्त्र ओढ़ना चाहिए। सर्वत्र ऊनी वस्त्र बाहर ओढ़ने की विधि रही है।

सूत्र—४६

१२. वस्त्र न धोए, न रंगे और धोए-रंगे वस्त्रों का धारण न करे—यह यथा-परिगृहीत वस्त्र की व्यवस्था है। यह निषेध विभूषा की दृष्टि से किया गया है। (देखें, निसीहज्झयणं, १६।१५४)

सूत्र—४८

कोई वस्त्र न ओढ़े। यदि वस्त्र दुर्लभ हो, आगामी हेमन्त में मिलने की संभावना न हो, तो अति जीर्ण वस्त्र को विसर्जित करे और शेष को धारण करे, किन्तु उन्हें काम में न ले। यदि एक वस्त्र अधिक जीर्ण हो, तो उसे विसर्जित कर दे और दो वस्त्र धारण करे। अथवा दो वस्त्र अति जीर्ण हों, तो दो को विसर्जित कर दे, एक को धारण करे। अथवा तीनों अति जीर्ण हों, तो तीनों को विसर्जित कर दे।

सूत्र—५७

१५. बाईस परीषहों में स्त्री और सत्कार—दो शीत और शेष बीस परीषह उष्ण होते हैं (आचा० निर्युक्ति अ० ३, गा० २०२)। प्रस्तुत प्रकरण में शीत स्पर्श का अर्थ स्त्री-परीषह या काम-भोग है।

सूत्र—५७-६१

१६. भिक्षु भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर जाता है; उस समय उसके पारिवारिक लोग उसे घर में रखने का प्रयत्न करते हैं अथवा किसी अन्य घर में जाने पर कोई स्त्री मुग्ध होकर उसे अपने घर में रखने का प्रयत्न करती है। उस स्थिति में उसे क्या करना चाहिए ? प्रस्तुत आलापक में सूत्रकार ने इसका निर्देश दिया है।

मरण दो प्रकार का होता है—बाल-मरण और पण्डित-मरण। वेहानस—फांसी लगाकर मरना बाल-मरण है। अनशन पण्डित-मरण है (भगवती सूत्र, २।४९)। किन्तु तात्कालिक परिस्थिति में फंसा हुआ भिक्षु अनशन का प्रयोग कैसे करे ? उस समय ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए उसे वेहानस-मृत्यु के प्रयोग की स्वीकृति दी गई है। इस स्थिति में वह बाल-मरण नहीं है।

सूत्रकार यहां एक स्थिति की ओर संकेत करते हैं। कोई भिक्षु भिक्षा के लिए जाए। पारिवारिक लोग उसकी पूर्व-पत्नी-सहित उसे कमरे में बंद कर दें। वह उससे बाहर निकल न सके। उसकी पूर्व-पत्नी उसे विचलित करने का प्रयत्न करे। तब वह श्वास बंद कर मृतक जैसा हो जाए और अवसर पाकर गले में दिखावटी फांसी लगाने का प्रयत्न करे। उस समय वह स्त्री कहे—आप चले जाएं, किन्तु प्राण-त्याग न करें। तब भिक्षु आ जाए और यदि वह स्त्री उसे ऐसा न कहे, तो वह गले में फांसी लगाकर प्राण-त्याग कर दे। ऐसा करना बाल-मरण नहीं है—यह भगवान् महावीर के द्वारा अनुज्ञात है।

सूत्र—१०५

१७. सामान्यतः मनुष्य रोग से ग्लान होता है। चूर्णिकार ने बताया है कि अपर्याप्त भोजन, अपर्याप्त वस्त्र, अवस्त्र और प्रहरों तक ऊकडू आसन में बैठना—इनसे अग्लान भी ग्लान जैसा हो जाता है। तपस्या से भी शरीर ग्लान हो जाता है। शरीर

के ग्लान होने पर भिक्षु को समाधि-मरण की तैयारी—संलेखना प्रारम्भ कर देनी चाहिए। आहार का संवर्तन, कषाय का विशेष जागरूकता से अल्पीकरण और शरीर का स्थिरीकरण—ये संलेखना के मुख्य अंग हैं।

'उत्थान' तीन प्रकार का होता है: दीक्षा लेना—संयम का उत्थान, ग्रामानुग्राम विहार करना—अभ्युद्यत विहार का उत्थान; और शारीरिक अक्षमता का अनुभव होने पर संलेखना करना—अभ्युद्यत मरण का उत्थान।

सूत्र—१०६

१८. अनशन करते समय उस भिक्षु का मुख पूर्व दिशा की ओर होना चाहिए। उसकी अंजलि मस्तक का स्पर्श करती हुई होनी चाहिए। वह सिद्धों को नमस्कार कर इत्वरिक अनशन का संकल्प करे। इस अनशन में निश्चित क्षेत्र में संचरण किया जा सकता है। इसलिए इसे इत्वरिक कहा गया है। यहां इस का अर्थ अल्पकालिक अनशन नहीं है।

श्लोक—१

१९. समाधि-मरण के लिए किया जाने वाला अनशन तीन प्रकार का होता है:

१. भक्त-प्रत्याख्यान,

२. इंगिनि-(इंगित) मरण (इत्वरिक अनशन),

३. [illegible]

से मुक्त होकर अनशन करना—यह 'आनुपूर्वी अनशन' है।

श्लोक—३

२०. प्रस्तुत श्लोक में भाव-संलेखना (कषाय का अल्पीकरण) और द्रव्य-संलेखना (आहार का अल्पीकरण) की विधि निर्दिष्ट है। आहार के अल्पीकरण की विधि इस प्रकार है—

संलेखना द्वादश वर्षीय होती है। **उत्तराध्ययन** (३६।२५१-२५५) के अनुसार इस संलेखना का पूर्ण क्रम इस प्रकार है—

प्रथम चार वर्ष—विकृति-परित्याग अथवा आचाम्ल।

द्वितीय चार वर्ष—विचित्र तप—उपवास, बेला, तेला आदि और पारण में यथेष्ट भोजन।

नौंवे और दसवें वर्ष—एकान्तर उपवास और पारण में आचाम्ल।

ग्यारहवें वर्ष की प्रथम छमाही—उपवास या बेला।

ग्यारहवें वर्ष की द्वितीय छमाही—विकृष्ट तप—तेला, चोला आदि तप।

समूचे ग्यारहवें वर्ष में पारण के दिन—आचाम्ल। प्रथम छमाही में आचाम्ल के दिन ऊनोदरी की जाती है और दूसरी छमाही में उस दिन पेट भर भोजन किया जाता है।

बारहवें वर्ष में—कोटि-सहित आचाम्ल अर्थात् निरन्तर आचाम्ल अथवा प्रथम दिन आचाम्ल, दूसरे दिन कोई दूसरा तप और तीसरे दिन फिर आचाम्ल।

बारहवें वर्ष के अन्त में—अर्द्ध-मासिक या मासिक अनशन, भक्त-परिज्ञा आदि।

निशीथ चूर्णि के अनुसार बारहवें वर्ष में क्रमशः आहार की उस प्रकार कमी की जाती है, जिससे आहार और आयु एक साथ ही समाप्त हों। उस वर्ष के अन्तिम चार महीनों में मुंह में तैल भर कर रखा जाता है। मुखयन्त्र विसंवादी न हो—नमस्कार मन्त्र आदि का उच्चारण करने में असमर्थ न हो, यह उसका प्रयोजन है।

(**उत्तरज्झयणाणि**, भाग २, टिप्पण, पृ० २६३-२६४)

श्लोक-२३

२१. काम दो प्रकार का होता है—मदन-काम और इच्छा-काम। प्रस्तुत श्लोक में दोनों प्रकार के कामों में आसक्ति न रखने का निर्देश दिया गया है। जीवन के अन्तिम क्षणों में 'निदान' का प्रसंग आ सकता है। 'अगले जन्म में मैं सर्वोच्च पद प्राप्त करूं' इस प्रकार का संकल्प उत्पन्न हो सकता है। किन्तु, निष्काम साधक को इस प्रकार के संकल्पों से बचना चाहिए।

नवमं अज्झयणं

उवहाण-सुयं

नवम अध्ययन

उपधान-सूत्र

से मुक्त होकर अनशन करना—यह 'आनुपूर्वी अनशन' है।

श्लोक—३

२०. प्रस्तुत श्लोक में भाव-संलेखना (कषाय का अल्पीकरण) और द्रव्य-संलेखना (आहार का अल्पीकरण) की विधि निर्दिष्ट है। आहार के अल्पीकरण की विधि इस प्रकार है—

संलेखना द्वादश वर्षीय होती है। **उत्तराध्ययन** (३६।२५१-२५५) के अनुसार इस संलेखना का पूर्ण क्रम इस प्रकार है—

प्रथम चार वर्ष—विकृति-परित्याग अथवा आचाम्ल।

द्वितीय चार वर्ष—विचित्र तप—उपवास, बेला, तेला आदि और पारण में यथेष्ट भोजन।

नौवें और दसवें वर्ष—एकान्तर उपवास और पारण में आचाम्ल।

ग्यारहवें वर्ष की प्रथम छमाही—उपवास या बेला।

ग्यारहवें वर्ष की द्वितीय छमाही—विकृष्ट तप—तेला, चोला आदि तप।

समूचे ग्यारहवें वर्ष में पारण के दिन—आचाम्ल। प्रथम छमाही में आचाम्ल के दिन ऊनोदरी की जाती है और दूसरी छमाही में उस दिन पेट भर भोजन किया जाता है।

बारहवें वर्ष में—कोटि-सहित आचाम्ल अर्थात् निरन्तर आचाम्ल अथवा प्रथम दिन आचाम्ल, दूसरे दिन कोई दूसरा तप और तीसरे दिन फिर आचाम्ल।

बारहवें वर्ष के अन्त में—अर्द्ध-मासिक या मासिक अनशन, भक्त-परिज्ञा आदि।

निशीथ चूर्णि के अनुसार बारहवें वर्ष में क्रमशः आहार की उस प्रकार कमी की जाती है, जिससे आहार और आयु एक साथ ही समाप्त हों। उस वर्ष के अन्तिम चार महीनों में मुंह में तैल भर कर रखा जाता है। मुखयन्त्र विसंवादी न हो—नमस्कार मन्त्र आदि का उच्चारण करने में असमर्थ न हो, यह उसका प्रयोजन है।

(**उत्तरज्झयणाणि**, भाग २, टिप्पण, पृ० २६३-२६४)

श्लोक-२३

२१. काम दो प्रकार का होता है—मदन-काम और इच्छा-काम। प्रस्तुत श्लोक में दोनों प्रकार के कामों में आसक्ति न रखने का निर्देश दिया गया है। जीवन के अन्तिम क्षणों में 'निदान' का प्रसंग आ सकता है। 'अगले जन्म में मैं सर्वोच्च पद प्राप्त करूं' इस प्रकार का संकल्प उत्पन्न हो सकता है। किन्तु, निष्काम साधक को इस प्रकार के संकल्पों से बचना चाहिए।

नवमं अज्झयनं

उवहाण-सुयं

नवम अध्ययन

उपधान-श्रुत

से मुक्त होकर अनशन करना—यह 'आनुपूर्वी अनशन' है।

श्लोक—३

२०. प्रस्तुत श्लोक में भाव-संलेखना (कषाय का अल्पीकरण) और द्रव्य-संलेखना (आहार का अल्पीकरण) की विधि निर्दिष्ट है। आहार के अल्पीकरण की विधि इस प्रकार है—

संलेखना द्वादश वर्षीय होती है। **उत्तराध्ययन** (३६।२५१-२५५) के अनुसार इस संलेखना का पूर्ण क्रम इस प्रकार है—

प्रथम चार वर्ष—विकृति-परित्याग अथवा आचाम्ल।

द्वितीय चार वर्ष—विचित्र तप—उपवास, बेला, तेला आदि और पारण में यथेष्ट भोजन।

नौंवे और दसवें वर्ष—एकान्तर उपवास और पारण में आचाम्ल।

ग्यारहवें वर्ष की प्रथम छमाही—उपवास या बेला।

ग्यारहवें वर्ष की द्वितीय छमाही—विकृष्ट तप—तेला, चोला आदि तप।

समूचे ग्यारहवें वर्ष में पारण के दिन—आचाम्ल। प्रथम छमाही में आचाम्ल के दिन ऊनोदरी की जाती है और दूसरी छमाही में उस दिन पेट भर भोजन किया जाता है।

बारहवें वर्ष में—कोटि-सहित आचाम्ल अर्थात् निरन्तर आचाम्ल अथवा प्रथम दिन आचाम्ल, दूसरे दिन कोई दूसरा तप और तीसरे दिन फिर आचाम्ल।

बारहवें वर्ष के अन्त में—अर्द्ध-मासिक या मासिक अनशन, भक्त-परिज्ञा आदि।

निशीथ चूर्णि के अनुसार बारहवें वर्ष में क्रमशः आहार की उस प्रकार कमी की जाती है, जिससे आहार और आयु एक साथ ही समाप्त हों। उस वर्ष के अन्तिम चार महीनों में मुंह में तैल भर कर रखा जाता है। मुखयन्त्र विसंवादी न हो—नमस्कार मन्त्र आदि का उच्चारण करने में असमर्थ न हो, यह उसका प्रयोजन है।

(**उत्तरज्झयणाणि**, भाग २, टिप्पण, पृ० २६३-२६४)

श्लोक:२३

२१. काम दो प्रकार का होता है—मदन-काम और इच्छा-काम। प्रस्तुत श्लोक में दोनों प्रकार के कामों में आसक्ति न रखने का निर्देश दिया गया है। जीवन के अन्तिम क्षणों में 'निदान' का प्रसंग आ सकता है। 'अगले जन्म में मैं सर्वोच्च पद प्राप्त करूं' इस प्रकार का संकल्प उत्पन्न हो सकता है। किन्तु, निष्काम साधक को इस प्रकार के संकल्पों से बचना चाहिए।

नवम अध्ययन

उवहाण-सुयं

पढमो उद्देसो

भगवओ चरिया-पदं

१. अहासुयं वदिस्सामि, जहा से समणे भगवं उट्ठाय।
संखाए तंसि हेमंते, अहुणा पव्वइए रीयत्था॥

२. णो चेविमेण वत्थेण, पिहिस्सामि तंसि हेमंते।
से पारए आवकहाए, एयं खु अणुधम्मियं तस्स॥

३. चत्तारि साहिए मासे, बहवे पाण-जाइया आगम्म।
अभिरुज्झ कायं विहरिंसु, आरुसियाणं तत्थ हिंसिंसु॥

४. संवच्छरं साहियं मासं, जं ण रिक्कासि वत्थगं भगवं।
अचेलए ततो चाई, तं वोसज्ज वत्थमणगारे॥

प्रथम उद्देशक

५. अदु पोरिसिं तिरियं भित्तिं, चक्खुमासज्ज अंतसो झाइ।
अह चक्खु-भीया सहिया, तं "हंता हंता" बहवे कंदिसु ॥

६. सयणेहिं वितिमिस्सेहिं, इत्थीओ तत्थ से परिण्णाय।
सागारियं ण सेवे, इति से सयं पवेसिया झाति ॥

७. जे के इमे अगारत्था, मीसीभावं पहाय से झाति।
पुट्ठो वि णाभिभासिंसु, गच्छति णाइवत्तई अंजू ॥

८. णो सुगरमेतमेगेसिं, णाभिभासे अभिवायमाणे।
हयपुव्वो तत्थ दंडेहिं, लूसियपुव्वो अप्पपुण्णेहिं ॥

९. फरुसाइं दुत्तितिक्खाइं, अतिअच्च मुणी परक्कममाणे।
आघाय-णट्ट-गीताइं, दंडजुद्धाइं मुट्ठिजुद्धाइं॥

१०. गढिए मिहो-कहासु, समयंमि णायसुए विसोगे अदक्खू।
एताइं सो उरालाइं, गच्छइ णायपुत्ते असरणाए॥

११. अविसाहिए दुवे वासे, सीतोदं अभोच्चा णिक्खंते।
एगत्तगए पिहियच्चे, से अहिण्णायदंसणे संते॥

१२. पुढविं च आउकायं, तेउकायं च वाउकायं च।
पणगाइं बाय-हरियाइं, तसकायं च सव्वसो णच्चा॥

१३. एयाइं संति पडिलेहे, चित्तमंताइं से अभिण्णाय।
परिवज्जिया ण विहरित्था, इति संखाए से महावीरे॥

१४. अदु थावरा तसत्ताए, तसजीवा य थावरत्ताए।
अदु सव्वजोणिया सत्ता, कम्मुणा कप्पिया पुढो बाला॥

१५. भगवं च एवं मन्नेसिं, सोवहिए हु लुप्पती बाले।
कम्मं च सव्वसो णच्चा, तं पडियाइक्खे पावगं भगवं॥

१६. दुविहं समिच्च मेहावी, किरियमक्खायणेलिसिं णाणी।
आयाण-सोयमतिवाय-सोयं, जोगं च सव्वसो णच्चा ॥

१७. अइवातियं अणाउट्टे, सयमण्णेसिं अकरणयाए।
जस्सित्थिओ परिण्णाया, सव्वकम्मावहाओ से अदक्खू ॥

१८. अहाकडं न से सेवे, सव्वसो कम्मुणा य अदक्खू।
जं किंचि पावगं भगवं, तं अकुव्वं वियडं भुंजित्था ॥

१९. णो सेवती य परवत्थं, परपाए वि से ण भुंजित्था।
परिवज्जियाण ओमाणं, गच्छति संखडिं असरणाए ॥

२०. मायण्णे असण-पाणस्स, णाणुगिद्धे रसेसु अपडिण्णे।
अच्छिंपि णो पमज्जिया, णोवि य कंडूयये मुणी गायं॥

२१. अप्पं तिरियं पेहाए, अप्पं पिट्ठओ उपेहाए।
अप्पं बुइएऽपडिभाणी, पंथपेही चरे जयमाणे॥

२२. सिसिरंसि अद्धपडिवन्ने, तं वोसज्ज वत्थमणगारे।
पसारित्तु बाहुं परक्कमे, णो अवलंबियाण कंधंसि॥

२३. एस विही अणुक्कंतो, माहणेण मईमया।
अपडिण्णेण वीरेण, कासवेण महेसिणा॥
—त्ति बेमि

बीओ उद्देसो

भगवओ सेज्जा-पदं

१, चरियासणाइं सेज्जाओ, एगतियाओ जाओ बुइयाओ।
आइक्ख ताइं सयणासणाइं, जाइं सेवित्था से महावीरो॥

२. आवेसण - सभा - पवासु , पणियसालासु एगदा वासो।
अदुवा पलियट्ठाणेसु, पलालपुंजेसु एगदा वासो॥

३. आगंतारे आरामागारे, गामे णगरेवि एगदा वासो।
सुसाणे सुण्णगारे वा, रुक्खमूले वि एगदा वासो॥

४. एतेहिं मुणी सयणेहिं, समणे आसी पतेरस वासे।
राइं दिवं पि जयमाणे, अप्पमत्ते समाहिए झाति ॥

५. णिद्दं पि णो पगामाए, सेवइ भगवं उट्ठाए।
जग्गावती य अप्पाणं, ईसिं साई या सी अपडिण्णे ॥

६. संबुज्झमाणे पुणरवि, आसिंसु भगवं उट्ठाए।
णिक्खम्म एगया राओ, बहिं चंकमिया मुहुत्तागं ॥

७. सयणेहिं तस्सुवसग्गा, भीमा आसी अणेगरूवा य।
संसप्पगाय जे पाणा, अदुवा जे पक्खिणो उवचरंति॥

८. अदु कुचरा उवचरंति, गामरक्खा य सत्तिहत्था य।
अदु गामिया उवसग्गा, इत्थी एगतिया पुरिसा य ॥

९. इहलोइयाइं परलोइयाइं, भीमाइं अणेगरूवाइं।
अवि सुब्भि-दुब्भि-गंधाइं, सद्दाइं अणेगरूवाइं ॥

१०. अहियासए सया समिए, फासाइं विरूवरूवाइं।
अरइं रइं अभिभूय, रीयई माहणे अबहुवाई ॥

४. एतेहिं मुणी सयणेहिं, समणे आसी पतेरस वासे।
राइं दिवं पि जयमाणे, अप्पमत्ते समाहिए झाति॥

५. णिद्दं पि णो पगामाए, सेवइ भगवं उट्ठाए।
जग्गावती य अप्पाणं, ईसिं साई या सी अपडिण्णे॥

६. संबुज्झमाणे पुणरवि, आसिंसु भगवं उट्ठाए।
णिक्खम्म एगया राओ, बहिं चंकमिया मुहुत्तागं॥

७. सयणेहिं तस्सुवसग्गा, भीमा आसी अणेगरूवा य।
संसप्पगाय जे पाणा, अदुवा जे पक्खिणो उवचरंति॥

८. अदु कुचरा उवचरंति, गामरक्खा य सत्तिहत्था य।
अदु गामिया उवसग्गा, इत्थी एगतिया पुरिसा य॥

९. इहलोइयाइं परलोइयाइं, भीमाइं अणेगरूवाइं।
अवि सुब्भि-दुब्भि-गंधाइं, सद्दाइं अणेगरूवाइं॥

१०. अहियासए सया समिए, फासाइं विरूवरूवाइं।
अरइं रइं अभिभूय, रीयई माहणे अवहुवाई॥

४. भगवान् साधना-काल के साढ़े बारह वर्षों में इन वास-स्थानों में प्रसन्नमना रहते थे। वे रात और दिन [मन, वाणी और शरीर को] स्थिर और एकाग्र तथा इन्द्रियों को शांत कर समाहित अवस्था में ध्यान करते थे।

५. भगवान् शरीर-सुख के लिए नीद नहीं लेते थे। [निद्रा का अवसर आने पर] वे खड़े होकर अपने-आप को जाग्रत कर लेते थे। वे [चिर जागरण के बाद शरीर-धारण के लिए] कभी-कभी थोड़ी नींद लेते थे। उनके मन में निद्रा-सुख की आकांक्षा नहीं थी।[१२]

६. भगवान् पलभर की नींद के बाद फिर जागृत होकर आन्तरिक जागरूकता-पूर्वक ध्यान में बैठ जाते थे। कभी-कभी रात्री में नींद अधिक सताने लगती तब वे उपाश्रय से बाहर निकलकर मुहूर्तभर चंक्रमण करते, [फिर अपने स्थान में आकर ध्यान-लीन हो जाते]।[१३]

७. भगवान् को उन आवास-स्थानों में अनेक प्रकार के भयंकर उपसर्ग झेलने पड़े। [वे ध्यान में रहते, तब] कभी सांप और नेवला काट खाते, कभी कुत्ते काट खाते। कभी चींटियां शरीर को लहूलुहान कर देतीं, कभी डांस, मच्छर और मक्खियां सतातीं, [फिर भी भगवान् आत्म-ध्यान में लीन रहते]।

८. [सूने घर में ध्यान करते, तब] उन्हें चोर या पारदारिक सताते; [जब वे तिराहे-चौराहे पर ध्यान करते, तब हाथ में भाले लिए हुए ग्राम-रक्षक उन्हें सताते। भगवान् को कभी स्त्रियों और कभी पुरुषों के द्वारा कृत काम-सम्बन्धी उपसर्ग सहने होते।[१४]

९. भगवान् ने मनुष्य और तिर्यंच (पशु)-सम्बन्धी नाना प्रकार के भयानक कष्ट सहन किए। वे अनेक प्रकार के सुगंध और दुर्गंध तथा प्रिय और अप्रिय शब्दों में संतुलित रहे।

१०. उन्होंने अपनी समीचीन प्रवृत्ति के द्वारा नाना प्रकार के स्पर्शों को झेला। वे संयम में होने वाली अरति और असंयम में होने वाली रति को [ध्यान के द्वारा] अभिभूत कर चलते थे। वे प्रायः मौन रहते थे—आवश्यकता होने पर ही कुछ-कुछ बोलते थे।

११. स जणेहिं तत्थ पुच्छिसु, एगचरा वि एगदा राओ।
अव्वाहिए कसाइत्था, पेहमाणे समाहिं अपडिण्णे ।।

१२. अयमंतरंसि को एत्थ, अहमंसि त्ति भिक्खू आहट्टु ।
अयमुत्तमे से धम्मे, तुसिणीए स कसाइए झाति ।।

१३. जंसिप्पेगे पवेयंति, सिसिरे मारुए पवायंते ।
तंसिप्पेगे अणगारा, हिमवाए णिवायमेसंति ।।

१४. संघाडिओ पविसिस्सामो, एहा य समादहमाणा ।
पिहिया वा सक्खामो, अतिदुक्खं हिमग-संफासा ।।

१५. तंसि भगवं अपडिण्णे, अहे वियडे अहियासए दविए ।
णिक्खम्म एगदा राओ, चाएइ भगवं समियाए ।।

१६. एस विही अणुक्कंतो, माहणेण मईमया ।
अपडिण्णेण वीरेण, कासवेण महेसिणा ।।
—त्तिवेमि ।

११. [भगवान् एकान्त में ध्यान करते, तब] कुछ अकेले घूमने वाले लोग आकर पूछते [—'तुम कौन हो ? कहां से आए हो ? यहां क्यों खड़े हो ?] [कभी-कभी रात्रि में पारदारिक लोग आते और पूछते—'तुम सूने घर में क्या करते हो ?] भगवान् उन्हें उत्तर नहीं देते, तब वे रुष्ट होकर दुर्व्यवहार करते। [ऐसा होने पर भी] भगवान् समाधि में लीन रहते; उनके मन में प्रतिकार का कोई संकल्प भी नहीं उठता।

१२. [भगवान् ने उपवन के अन्तर-आवास में ध्यान किया, तब प्रतिदिन आने वाले व्यक्तियों ने वहां आकर पूछा—] 'यह भीतर कौन है ?' भगवान् ने कहा—'मैं भिक्षु हूं।' [उन्होंने कहा—'यह स्थान किसने दिया ? हमारी क्रीड़ा-भूमि में क्यों खड़े हो ?' भगवान् वहां से चले गए]। यह उनका उत्तम धर्म है। उन व्यक्तियों के उत्तेजित होने पर भी भगवान् मौन और ध्यान में लीन रहे।

१३. जिस शिशिर ऋतु में ठंडी हवा चलने पर [अल्प वस्त्र वाले लोग] कांप उठते थे, उस ऋतु में हिमपात होने पर कुछ अनगार भी हवा-रहित अगार की खोज करते थे।

१४. वे वस्त्रों में लिपट जाने का संकल्प करते थे। कुछ संन्यासी 'ईंधन जला, किवाड़ों को बन्द कर उस सर्दी को सह सकेंगे,' इस संकल्प से ऐसा करते थे; क्योंकि हिम के स्पर्श को सहन करना बहुत ही कष्टदायी है।

१५. उस शिशिर ऋतु में भी भगवान् [हवा-रहित अगार की खोज और वस्त्रों के परिधान का] संकल्प नहीं करते थे। वे समभाव में एकाग्र होकर मंडप में [खड़े-खड़े] सर्दी को सहन करते थे। रात को सर्दी प्रगाढ़ हो जाती, तब भगवान् उस मंडप से बाहर चले जाते। [वहां से फिर मंडप में आ जाते और फिर बाहर चले जाते।] इस प्रकार भगवान् सम्यक्तया उसे सहन करने में समर्थ होते।

१६. मतिमान् माहन काश्यपगोत्री महर्षि महावीर ने संकल्प-मुक्त होकर पूर्व प्रतिपादित विधि का आचरण किया।

—ऐसा मैं कहता हूं

तइओ उद्देसो

भगवओ परीसह-उवसग्ग-पदं

१. तणफासे सीयफासे य, तेउफासे य दंस-मसगे य।
अहियासए सया समिए, फासाइं विरूवरूवाइं॥

२. अह दुच्चर-लाढमचारी, वज्जभूमिं च सुब्भ(म्ह?)भूमिं च।
पंतं सेज्जं सेविंसु, आसणगाणि चेव पंताइं॥

३. लाढेहिं तस्सुवसग्गा, बहवे जाणवया लूसिंसु।
अह लूहदेसिए भत्ते, कुक्कुरा तत्थ हिंसिंसु णिवतिंसु॥

४. अप्पे जणे णिवारेइ, लूसणए सुणए दसमाणे।
छुछुकारंति आहंसु, समणं कुक्कुरा डसंतुत्ति॥

५. एलिक्खए जणे भुज्जो, बहवे वज्जभूमि फरुसासी।
लट्ठिं गहाय णालीयं, समणा तत्थ एव विहरिंसु॥

६. एवं पि तत्थ विहरंता, पुट्ठपुव्वा अहेसि सुणएहिं।
संलुंचमाणा सुणएहिं, दुच्चरगाणि तत्थ लाढेहिं॥

७. णिधाय दंडं पाणेहिं, तं कायं वोसज्जमणगारे।
अह गामकंटए भगवं, ते अहियासए अभिसमेच्चा॥

तृतीय उद्देशक

भगवान के उपसर्ग और परीषह

१. भगवान् [लाढ देश में] घास की चुभन, सर्दी, भयंकर गर्मी, डांस और मच्छर का काटना—इन नाना प्रकार के कष्टों को सदा सम्यग् भाव से सहन करते थे।[१५]

२. दुर्गम लाढ देश के वज्रभूमि और सुम्हभूमि नामक प्रदेशों में भगवान् ने विहार किया। वहां उन्होंने तुच्छ वस्ती और तुच्छ आसनों का सेवन किया।[१६]

३. लाढ के जनपदों में भगवान् ने अनेक उपसर्गों का सामना किया। उन जनपदों के लोगों ने भगवान् पर अनेक प्रहार किए। वहां का भोजन प्रायः रूखा था। कुत्ते भगवान् को काट खाते और आक्रमण करते।[१७]

४. कुत्ते काटने आते या भौंकते, तब कोई-कोई व्यक्ति उन्हें रोकता, किन्तु बहुत सारे लोग श्रमण को कुत्ते काट खाएं, इस भावना से 'छू-छू' कर कुत्तों को बुलाते और भगवान् के पीछे लगाते।

५. ऐसे जनपद में भगवान् ने [छः मास तक] विहार किया। वज्रभूमि के बहुत लोग रूक्षभोजी होने के कारण कठोर स्वभाव वाले थे। उस जनपद में कुछ श्रमण लाठी× और नालिका+ पास में रखकर विहार करते थे।

६. इस प्रकार विहार करने वाले श्रमणों को भी कुत्ते काट खाते और नोंच डालते। लाढ देश के गांवों में विहार करना सचमुच कठिन था।

७. भगवान् प्राणियों के प्रति होने वाले दण्ड (हिंसा) का परित्याग और अपने शरीर का विसर्जन कर विहार कर रहे थे। वहां भगवान् तीखे वचनों को ज्ञानपूर्वक सहन करते थे।[१८]

× लाठी शरीर-प्रमाण होती है।

+ नालिका शरीर से चार अंगुल बड़ी होती है।

८. णाओ संगामसीसे वा, पारए तत्थ से महावीरे।
एवं पि तत्थ लाढेहिं, अलद्धपुव्वो वि एगया गामो।।

९. उवसंकमंतमपडिण्णं , गामंतियं पि अप्पत्तं।
पडिणिक्खमित्तु लूसिंसु, एत्तो परं पलेहित्ति।।

१०. हय-पुव्वो तत्थ दंडेण, अदुवा मुट्ठिणा अदु कुंताइ-फलेणं।
अदु लेलुणा कवालेणं, हंता-हंता वहवे कंदिंसु।।

११. मंसाणि छिन्नपुव्वाइं, उट्ठुभंति एगया कायं।
परीसहाइं लुंचिंसु, अहवा पंसुणा अवकिरिंसु।।

१२. उच्चालइय णिहणिंसु, अदुवा आसणाओ खलइंसु।
वोसट्ठकाए पणयासी, दुक्खसहे भगवं अपडिण्णे।।

१३. सूरो संगामसीसे वा, संवुडे तत्थ से महावीरे।
पडिसेवमाणे फरुसाइं, अचले भगवं रीइत्था।।

१४. एस विही अणुक्कंतो, माहणेण मईमया।
अपडिण्णेण वीरेण, कासवेण महेसिणा।।

—त्ति बेमि।

८. जैसे हाथी संग्राम-शीर्ष में शस्त्र से विद्ध होने पर भी खिन्न नहीं होता, किन्तु युद्ध का पार पा जाता है, वैसे ही भगवान् महावीर ने लाढ प्रदेशों में परीषहों का पार पा लिया। उन्हें वहां कभी-कभी ग्राम नहीं मिला, निवास के लिए स्थान भी नहीं मिला।

९. भगवान् नियत वास और नियत आहार का संकल्प नहीं करते थे। वे प्रयोजन होने पर निवास या आहार के लिए गांव में जाते। उसके भीतर प्रवेश से पूर्व ही कुछ लोग उन्हें रोक देते, प्रहार करते और कहते—यहां से आगे कोई दूसरा स्थान देखो।[१९]

१०. वहां कुछ लोग दण्ड, मुष्टि, भाला आदि शस्त्र, चपेटा, मिट्टी के ढेले और कपाल (खप्पर) से भगवान् पर प्रहार कर, 'हन्त! हन्त!' कहकर चिल्लाते।

११. कुछ लोग मांस काट लेते। कभी-कभी शरीर पर थूक देते; [प्रतिकूल] परीषह देते; कभी-कभी उन पर धूल डाल देते।

१२. कुछ लोग ध्यान में स्थित भगवान् को ऊंचा उठाकर नीचे गिरा देते। कुछ लोग आसन से स्खलित कर देते। किन्तु भगवान् शरीर का विसर्जन किए हुए, आत्मा के लिए समर्पित, कष्ट-सहिष्णु और सुख-प्राप्ति के संकल्प से मुक्त थे। [अतएव उनका समभाव विचलित नहीं होता था।][२०]

१३. जैसे कवच पहना हुआ योद्धा संग्राम-शीर्ष में विचलित नहीं होता, वैसे ही संवर का कवच पहने हुए भगवान् महावीर कष्टों को झेलते हुए ध्यान से विचलित नहीं होते थे। वे अविचलित भाव से घूमते रहे।

१४. मतिमान् माहन काश्यपगोत्री महर्षि महावीर ने संकल्प-मुक्त होकर पूर्व प्रतिपादित विधि का आचरण किया।

—ऐसा मैं कहता हूं।

चउत्थो उद्देसो

भगवओ अतिगिच्छा-पदं

१. ओमोदरियं चाएति, अपुट्ठे वि भगवं रोगेहिं।
पुट्ठे वा से अपुट्ठे वा, णो से सातिज्जति तेइच्छं॥

२. संसोहणं च वमणं च, गायब्भंगणं सिणाणं च।
संबाहणं ण से कप्पे, दंत-पक्खालणं परिण्णाए॥

३. विरए गामधम्मेहिं, रीयति माहणे अबहुवाई।
सिसिरंमि एगदा भगवं, छायाए झाइ आसी य॥

भगवओ आहार-चरिया-पदं

४. आयावई य गिम्हाणं, अच्छइ उक्कुडुए अभिवाते।
अदु जावइत्थ लूहेणं, ओयण-मंथु-कुम्मासेणं॥

५. एयाणि तिण्णि पडिसेवे, अट्ठ मासे य जावए भगवं।
अपिइत्थ एगया भगवं, अद्धमासं अदुवा मासं पि॥

६. अवि साहिए दुवे मासें, छप्पि मासे अदुवा अपिवित्ता।
रायोवरायं अपडिण्णे, अन्नगिलायमेगया भुंजे॥

७. छट्ठेणं एगया भुंजे, अदुवा अट्ठमेण दसमेणं।
दुवालसमेण एगया भुंजे, पेहमाणे समाहिं अपडिण्णे॥

चतुर्थ उद्देशक

भगवान् द्वारा चिकित्सा-परिहार

१. भगवान् रोग से अस्पृष्ट होने पर भी अवमोदर्य (अल्पाहार) करते थे। वे रोग से स्पृष्ट या अस्पृष्ट होने पर चिकित्सा का अनुमोदन नहीं करते थे।[२१]

२. वे विरेचन, वमन, तैल-मर्दन, स्नान, मर्दन नहीं करते थे और दन्त-प्रक्षालन भी नहीं करते थे।[२२]

३. भगवान् शब्द आदि इन्द्रिय-विषयों में विरत होकर विहार करते थे। वे बहुत नहीं बोलते थे। वे शिशिर ऋतु में छाया में ध्यान करते थे।

आहार-चर्या

४. भगवान् ग्रीष्म ऋतु में सूर्य का आतप लेते थे। ऊकडू आसन में लू के सामने मुंह कर बैठते थे। वे कभी-कभी रूखे कोदो, सत्तू और उड़द से जीवन यापन करते थे।

५. भगवान् ने इन तीनों का सेवन कर आठ महीने तक जीवन-यापन किया। या उन्होंने कभी-कभी अर्ध मास या एक मास तक पानी नहीं पिया।

६. उन्होंने कभी-कभी दो मास से अधिक और छः मास तक भी पानी नहीं पिया। उनके मन में नींद लेने का संकल्प नहीं होता था। वे रातभर जागृत रहते थे। कभी-कभी वे वासी भोजन भी करते थे।[२३]

७. वे कभी दो दिन, तीन दिन, चार दिन या पांच दिन के उपवास के बाद भोजन करते थे। उनकी दृष्टि [तप-] समाधि पर टिकी हुई थी और [भोजन के प्रति] उनके मन में कोई संकल्प नहीं था।

८. णच्चाणं से महावीरे, णो वि य पावगं सयमकासी।
अण्णेहिं वा ण कारित्था, कीरंतं पि णाणुजाणित्था॥

९. गामं पविसे णयरं वा, घासमेसे कडं परट्ठाए।
सुविसुद्धमेसिया भगवं, आयत-जोगयाए सेवित्था॥

१०. अदु वायसा दिगिंछत्ता, जे अण्णे रसेसिणो सत्ता।
घासेसणाए चिट्ठंते, सययं णिवतिते य पेहाए॥

११. अदु माहणं व समणं वा, गामपिंडोलगं च अतिहिं वा।
सोवागं मूसियारं वा, कुक्कुरं वावि विहं ठियं पुरतो॥

१२. वित्तिच्छेदं वज्जंतो, तेसप्पत्तियं परिहरंतो।
मंदं परक्कमे भगवं, अहिंसमाणो घासमेसित्था॥
(त्रिभिः कुलकम्)

१३. अवि सूइयं व सुक्कं वा, सीयपिंडं पुराणकुम्मासं।
अदु बक्कसं पुलागं वा, लद्धे पिंडे अलद्धए दविए॥

१४. अवि झाति से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए झाणं।
उड्ढमहे तिरियं च, पेहमाणे समाहिमपडिण्णे॥

१५. अकसाई विगयगेही, सद्दरूवेसुऽमुच्छिए झाति।
छउमत्थे वि परक्कममाणे, णो पमायं सइं पि कुव्वित्था॥

८. भगवान् महावीर [आहार के दोषों को] जानकर स्वयं पाप (आरम्भ-समारम्भ) नहीं करते थे, दूसरों से नहीं करवाते थे और अपने लिए करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करते थे।

९. भगवान् ग्राम या नगर में प्रवेश कर गृहस्थ के लिए बने हुए आहार की एषणा करते थे। सुविशुद्ध आहार ग्रहण कर संयत योग से उसका सेवन करते थे।

१०. भूख और प्यास से पीड़ित काक आदि पक्षी पान और भोजन की एषणा के लिए चेष्टा करते हैं, उन्हें निरन्तर बैठे हुए देखकर—

११. ब्राह्मण, श्रमण, भिक्षु या अतिथि, चाण्डाल, बिल्ली या कुत्ते को आगे मार्ग में बैठे हुए देखकर—

१२. उनकी आजीविका का विच्छेद न हो, उनके मन में भय उत्पन्न न हो, इसे ध्यान में रखकर भगवान् धीमे-धीमे चलते थे। वे किसी को त्रास न देते हुए आहार की एषणा करते थे।

१३. भोजन व्यंजन-सहित हो या व्यंजन-रहित, ठण्डा भात हो या बासी उड़द, सत्तू हो या चने आदि का रूक्ष हो, भोजन प्राप्त हो या न हो—इन सब स्थितियों में भगवान् राग या द्वेष नहीं करते थे।

१४. भगवान् ऊकड़ू आदि आसनों में स्थित और स्थिर होकर ध्यान करते थे। वे ऊंचे, नीचे और तिरछे लोक में होने वाले पदार्थों को ध्येय बनाते थे।× उनकी दृष्टि आत्म-समाधि पर टिकी हुई थी। वे संकल्प से मुक्त थे।

१५. भगवान् क्रोध, मान, माया और लोभ को शांत कर, आसक्ति को छोड़, शब्द और रूप में अमूर्च्छित होकर ध्यान करते थे। उन्होंने ज्ञानावरण आदि कर्म से आवृत्त दशा में पराक्रम करते हुए भी एक बार भी प्रमाद नहीं किया।"

× देखें टिप्पण २।१२५

१६. सयमेव अभिसमागम्म, आयतजोगमायसोहीए ।
अभिणिव्वुडे अमाइल्ले, आवकहं भगवं समिआसी ।।

१७. एस विही अणुक्कंतो, माहणेण मईमया ।
अपडिण्णेण वीरेण, कासवेण महेसिणा ।।
—त्ति बेमि

१६. आत्म-शुद्धि के द्वारा आयत-योग (मन, वचन और शरीर की संयत प्रवृत्ति) को प्राप्त होकर भगवान् उपशांत हो गए। उन्होंने ऋजु भाव से [तप की साधना की]। वे सम्पूर्ण साधना-काल में समित रहे।

१७. मतिमान् माहन काश्यपगोत्री महर्षि महावीर ने संकल्प-मुक्त होकर पूर्व प्रतिपादित विधि का आचरण किया।

—ऐसा मैं कहता हूं।

टिप्पण

११२

१. भगवान् महावीर ने अनुधर्म का प्रवर्तन किया था। इसके दो लक्षण हैं—
१. अहिंसा, २. सहिष्णुता[1]।

११३

२. भगवान् के शरीर पर अनुवासित सुगन्धी द्रव्यों की गंध बहुत मोहक थी। उसमें आशक्त होकर बहुत सारे तरुण भगवान् के पास आते और सुगंधी द्रव्य की याचना करते। भगवान् मौन थे; इसलिए उन्हें कोई उत्तर नहीं देते। इससे रुष्ट होकर वे भगवान् के प्रति आक्रोश प्रकट करते—'क्या देखते हो, देते नहीं ?' भगवान् फिर मौन रहते। वे मौन से खिसियाकर अप्रिय व्यवहार करते।

भगवान् ध्यान-मुद्रा में खड़े रहते। उनके स्वेद और मल से रहित सुन्दर शरीर तथा सुगन्धित निःश्वास वाले मुख से स्त्रियां आकृष्ट हो जातीं। वे आकर पूछतीं—आप कहां रहते हैं ? यह सुगन्धित द्रव्य कहां मिलता है ? कौन बनाता है ? भगवान् मौन रहते। इस प्रकार उनका शरीर तथा पूर्वकृत अनुवासन उनके लिए उपसर्ग का हेतु बन रहा था। **(आचारांग चूर्णि, पृ० ३००)**

११४

३. भगवान् पहले वस्त्र-सहित दीक्षित हुए, फिर निर्वस्त्र हो गए। यह सिद्धान्त के आधार पर किया गया था। किन्तु उत्तरकालीन परम्परा के अनुसार—भगवान् सुवर्णवालुका नदी के तट पर जा रहे थे। नदी के प्रवाह में बहकर आए हुए कांटों में उनका वस्त्र उलझकर गिर गया। एक ब्राह्मण ने वह वस्त्र उठा लिया। वह वस्त्र भगवान् के कंधे पर तेरह महीने तक रहा। दीक्षा के समय जैसे रखा वैसे ही पड़ा रहा और कांटों में उलझ कर गिर पड़ा, तब भगवान् ने उसे छोड़ दिया।

---

१. देखें, सूयगडो, १।२।१४ सूत्र और वृत्ति।

यह कल्पना स्वाभाविक नहीं लगती। स्वाभाविक कल्पना यह हो सकती है—भगवान् ने सर्दी से बचाव के लिए नहीं अपितु लज्जा-निवारण के लिए वस्त्र रखा। निर्ग्रन्थ-परम्परा में ऐसा होता रहा है। लज्जा-निवारण के लिए एकशाटक निर्ग्रन्थों का उल्लेख बौद्ध साहित्य में मिलता है। कन्धे के आधार से शरीर पर एक वस्त्र धारण करने वाले एकशाटक कहलाते थे। भगवान् की साधना एकशाटक की भूमिका से आगे बढ़ गई, तब वे वस्त्र का सर्वथा परित्याग कर पूर्णतः अचेल हो गए। (आचारांग चूर्णि, पृ० ३००)

१।६,७

४. भगवान् ध्यान के लिए एकान्त स्थान का चुनाव करते थे। यदि एकान्त स्थान प्राप्त नहीं होता, तो मन को एकान्त बना लेते थे—बाह्य स्थितियों से हटाकर अन्तरात्मा में लीन कर लेते थे। क्षेत्र से एकान्त होना और एकान्त क्षेत्र की सुविधा न हो, तो मन को एकान्त कर लेना—यह दोनों ध्यान के लिए उपयोगी हैं।

१।६

५. भगवान् प्रतिकूल और अनुकूल दोनों प्रकार के परीषहों को सहन करते थे। एक वीणावादक वीणा बजा रहा था। भगवान् परिव्रजन करते हुए वहां आ पहुंचे। वीणावादक ने भगवान् को देखकर कहा—'देवार्य! कुछ ठहरो और मेरा वीणावादन सुनो।' भगवान् ने उसका अनुरोध स्वीकार नहीं किया। वे कुछ उत्तर दिए बिना ही चले गए। साधक के लिए यह एक अनुकूल कष्ट है।

१।११

६. भगवान् के माता-पिता का स्वर्गवास हुआ, तब वे अट्ठाइस वर्ष के थे। भगवान् ने श्रमण होने की इच्छा प्रकट की। उस समय नन्दीवर्द्धन आदि पारिवारिक लोगों ने भगवान् से प्रार्थना की—'कुमार! इस समय ऐसी बात कहकर, जले पर नमक मत डालो। इधर माता-पिता का वियोग और उधर तुम घर छोड़कर श्रमण होना चाहते हो, यह उचित नहीं है।' भगवान् ने इस बात पर ध्यान दिया। उन्होंने सोचा—'यदि मैं इस समय दीक्षित होऊंगा, तो बहुत सारे लोग शोकाकुल होकर विक्षिप्त हो जाएंगे। कुछ लोग प्राण त्याग देंगे। यह ठीक नहीं होगा।' भगवान् ने बातचीत को मोड़ देते हुए कहा—'आप बतलाएं, मैं कितने समय तक यहां रहूं?' नन्दीवर्द्धन ने कहा—'महाराज और महारानी की मृत्यु का शोक दो वर्ष तक मनाया जाएगा। इसलिए दो वर्ष तक तुम घर में रहो।' भगवान् ने उनका अनुरोध स्वीकार कर लिया। भगवान् ने कहा—'एक बात मेरी

भी माननी होगी। मैं भोजन आदि के विषय में स्वतन्त्र रहूंगा। उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा। यह बात मान्य हो, तभी मैं दो वर्ष तक रह सकता हूं।' नन्दीवर्द्धन आदि ने इसे स्वीकार कर लिया।

इस अवधि में भगवान् ने सजीव वस्तु का भोजन नहीं किया और सजीव पानी नहीं पिया। उन्होंने निर्जीव जल से हाथ-पैर आदि की शुद्धि की, किन्तु पूरा स्नान नहीं किया। भगवान् ने उस अवधि में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का जीवन जिया। वे रात्रि-भोजन नहीं करते थे। वे परिवार के प्रति भी अनासक्त रहे। यह गृहवास में साधुत्व का प्रयोग था।

११५

७. उस समय यह लौकिक मान्यता प्रचलित थी कि स्त्री अगले जन्म में भी स्त्री होती है और पुरुष पुरुष होता है; धनी अगले जन्म में भी धनी और मुनि मुनि होता है। भगवान् महावीर ने इस लौकिक मान्यता को अस्वीकार कर 'सर्वयोनिक उत्पाद' के सिद्धान्त की स्थापना की। उसके अनुसार कर्म की विविधता के कारण भावी जन्म में योनि-परिवर्तन होता रहता है।

११६

८. भगवान् गृहवास में रहते हुए अनासक्त जीवन जी रहे थे, तब उनके चाचा सुपार्श्व, भाई नन्दीवर्द्धन तथा अन्य मित्रों ने कहा—तुम शब्द, रूप आदि विषयों का भोग क्यों नहीं करते ?

भगवान् ने कहा—इन्द्रियां स्रोत हैं। इनसे बन्धन आता है। मेरी आत्मा स्वतन्त्रता के लिए छटपटा रही है। इसलिए मैं इन विषयों का भोग करने में असमर्थ हूं।

यह सुनकर उन्होंने कहा—कुमार। तुम ठंडा पानी क्यों नहीं पीते ? सचित्त आहार क्यों नहीं करते ?

भगवान् ने उत्तर दिया—हिंसा स्रोत है। उससे बन्धन आता है। मेरी आत्मा स्वतन्त्रता के लिए छटपटा रही है। इसलिए मैं मेरे ही जैसे जीवों का प्राण-वियोजन करने में असमर्थ हूं।

उन्होंने कहा—कुमार ! तुम हर समय ध्यान की मुद्रा में बैठे रहते हो। मनोरंजन क्यों नहीं करते ?

भगवान् ने कहा—मन, वाणी और शरीर—ये तीनों स्रोत हैं। उनसे बन्धन आता है। मेरी आत्मा स्वतन्त्रता के लिए छटपटा रही है। इसलिए मैं उनकी चंचलता को सहारा देने में असमर्थ हूं।

उन्होंने कहा—कुमार ! तुम स्नान क्यों नहीं करते ? भूमि पर क्यों सोते हो ?

भगवान् ने कहा—देहासक्ति और आराम—ये दोनों स्रोत हैं। मैं स्रोत का संवर चाहता हूं। इसलिए मैंने इस चर्या को स्वीकार किया है।

११९

९. चूर्णि के अनुसार भगवान् ने दीक्षा के समय एक वस्त्र रखा था। तेरह मास बाद उसे विसर्जित कर दिया। फिर उन्होंने किसी वस्त्र का सेवन नहीं किया।

भगवान् ने दीक्षित होने के बाद प्रथम पारण में गृहस्थ के पात्र में भोजन किया था। उसके बाद वे 'पाणिपात्र' हो गए। फिर किसी के पात्र में भोजन नहीं किया। एक बार भगवान् नालन्दा की तन्तुवायशाला में विहार कर रहे थे। उस समय गोशालक ने कहा—"भंते ! मैं आपके लिए भोजन लाऊं।' 'यह गृहस्थ के पात्र में भोजन लाएगा,' ऐसा सोचकर भगवान् ने उसका निषेध कर दिया। केवलज्ञान उत्पन्न होने पर भगवान् तीर्थंकर हो गए। तब उनके लिए लोहार्य नाम का मुनि गृहस्थों के घर से भोजन लाता था। किन्तु भगवान् उसे हाथ में लेकर ही भोजन करते थे—पात्र में नहीं करते थे।

प्रस्तुत वर्णन साधना-कालीन चर्या का है। इसलिए लोहार्य द्वारा लाए जाने वाला भोजन यहां विवक्षित नहीं है। (द्रष्टव्य, आ० चूर्णि, पृ० ३०९)

१२०

१०. भगवान का शरीर विशिष्ट स्वास्थ्य-शक्ति से युक्त था। उनके शरीर में साधारणतया अजीर्ण आदि दोष होने की सम्भावना नहीं थी। फिर भी वे मात्रा-युक्त भोजन करते थे। मात्रा से अतिरिक्त भोजन करने वाला शुभ ध्यान आदि क्रियाओं का विधिवत् आचरण नहीं कर सकता। भगवान् शुभ ध्यान आदि के लिए मात्रा-युक्त भोजन करते थे।

भगवान् गृहवास में भी भोजन के प्रति उत्सुक नहीं थे। वे प्रारम्भ से ही इस विषय में अनासक्त थे। प्रव्रजित होने पर साधना-काल में वह अनासक्ति चरम बिन्दु पर पहुंच गई।

'मुझे इस प्रकार का भोजन करना है और इस प्रकार का नहीं करना,' ऐसा संकल्प भगवान् नहीं करते थे। साधना की दृष्टि से वे संकल्प करते थे, जैसे—'आज मुझे उड़द का भोजन करना है।'

भगवान् की आंखें अनिमिष थीं। वे पलक नहीं झपकते। उनकी आंखों में कोई रजकण गिर जाता, तो वे उसे निकालते नहीं थे। चींटी, मच्छर या जानवर आदि के काटने पर वे शरीर को खुजलाते नहीं थे। यह सब वे सहज साधना के

लिए करते थे। 'जो जैसा घटित होता है, वैसा हो; उसमें मैं कोई हस्तक्षेप न करूं'—इस सहज साधना का प्रयोग वे कर रहे थे।

१।२३

११. भगवान् ने गृहवास के दो वर्ष तथा साधना-काल के साढ़े बारह वर्षों में संकल्प-मुक्ति की साधना की। 'मैं अमुक भोजन करूंगा, अमुक नहीं करूंगा। मैं अमुक स्थान में रहूंगा, अमुक स्थान में नहीं रहूंगा। अमुक समय में नींद लूंगा, अमुक समय में नहीं लूंगा'—इस प्रकार शरीर और उसकी आवश्यकतापूर्ति के प्रति उनके मन में कोई प्रतिज्ञा नहीं थी, कोई संकल्प नहीं था। साधना के अनुकूल सहज भाव से जो घटित होता, उसी को वे स्वीकार कर लेते।

२।५

१२. भगवान् ने अपने साढ़े बारह वर्ष के साधना-काल में केवल अन्तर्मुहूर्त [४८ मिनट से कम] नींद ली। वह भी एक बार में नहीं, किन्तु अनेक बार में। वे लेटते नहीं थे। खड़े-खड़े या बैठे-बैठे पलभर के लिए झपकी ले लेते और फिर ध्यान में लग जाते। अस्थिक ग्राम में उन्होंने कुछ क्षणों की नींद ली थी। उसमें उन्होंने दस स्वप्न देखे थे।[1]

२।६

१३. भगवान् की साधना के मुख्य तीन अंग हैं—

१. आहार-संयम

२. इन्द्रिय-संयम

३. निद्रा-संयम

वे आन्तरिक अनुभूति की सरसता के द्वारा आहार-संयम या रस-संयम करते थे।

वे आत्म-दर्शन की तन्मयता के द्वारा इन्द्रिय-संयम करते थे।

वे ध्यान के द्वारा निद्रा-संयम करते थे। ग्रीष्म और हेमन्त में नींद अधिक सताती थी। उस समय भगवान् चंक्रमण के द्वारा उस पर विजय पाते थे।

२।८

१४. भगवान् के रूप को देखकर स्त्रियां मुग्ध हो जातीं। वे रात्री के समय उनके पास आ उन्हें विचलित करने का प्रयत्न करतीं। भगवान् का ध्यान भंग नहीं

---

१. स्थानांग सूत्र, १०।१०३; भगवती सूत्र, १६।६१

होता, तब वे रुष्ट होकर गालियां देतीं। इस बात का उनके पतियों को पता चलता, तब वे भगवान् के पास आकर व्यंग्य की भाषा में बोलते—'इसी भिक्षु ने हमारी रमणियों को अपने मोह-जाल में फंसाया। हमें इसका प्रतिकार करना चाहिए।' वे भगवान् को गालियां देते और ताड़ना-तर्जना भी करते। भगवान् आत्म-ध्यान में लीन रहते थे; इसलिए वे इन दोनों स्थितियों की ओर ध्यान नहीं देते।

३।१

१५. भगवान् साधना-काल में लाढ देश (पश्चिम बंगाल के तमलुक, मिदनापुर, हुगली तथा बर्दवान जिले का हिस्सा) में गए थे। उस प्रदेश में घास बहुत होती थी। इसलिए बार-बार उसके चुभन के प्रसंग आते। वह प्रदेश पर्वतों से आकीर्ण था। इसलिए वहां सर्दी बहुत पड़ती थी।

ग्रीष्म में भगवान् सूर्य के आतप को सहन करते थे। हालदुग में भगवान् को अग्नि का स्पर्श सहना पड़ा।

लाढ़ प्रदेश में डांस, मच्छर, जलौका आदि जीव-जन्तु भी बहुत थे। भगवान् इन सब स्थितियों को जानते हुए भी समभाव की कसौटी के लिए वहां गए थे।

३।२

१६. लाढ देश पर्वतों और बीहड़ जंगलों के कारण बहुत दुर्गम था, फिर भी भगवान् वहां गए। वहां भगवान् को रहने के लिए प्रायः सूने और टूटे-फूटे घर मिले। उन्हें बैठने के लिए काष्ठासन, फलक और पट्ट मिले, वे भी धूल, उपले और मिट्टी से सने हुए थे; फिर भी भगवान् के समभाव में कोई अन्तर नहीं आया।

३।३

१७. लाढ देश के वज्र और सुम्ह प्रदेशों में प्रायः नगर नहीं थे। वहां तिल नहीं होते थे; गाएं भी बहुत कम थीं; इसलिए तेल और घृत सुलभ नहीं थे। फलतः वहां के निवासी रूखा भोजन करते थे; रूखा आहार करने के कारण वे बहुत क्रोधी थे। बात-बात में रुष्ट होना, गाली देना, प्रहार करना—उनके लिए सहज था। वे घास के द्वारा शरीर का प्रावरण करते थे।

भगवान् मध्याह्न में भोजन लेते थे। वहां उन्हें ठंडे चावल (पानी में भिगोकर रखे हुए) और उड़द की दाल मिलती थी; अम्ल-रस मिलता था, नमक नहीं।

वहां कुत्ते बहुत खूंखार होते थे। वहां के निवासी कुत्तों से बचाव करने के लिए लाठी और डंडे रखते थे। भगवान् के पास न कोई लाठी थी और न कोई डंडा। इसलिए कुत्तों को आक्रमण करने में कोई रुकावट नहीं होती।

३।७

१८. दण्ड के तीन प्रकार हैं—मन-दण्ड, वाणी-दण्ड और शरीर-दण्ड। भगवान् कष्ट देने वाले जीव-जन्तुओं व प्राणियों का स्वयं निवारण नहीं करते थे; उनका निवारण करने के लिए दूसरों से नहीं कहते थे; उनके निवारण के लिए मानसिक संकल्प भी नहीं करते थे। वे मन, वचन और शरीर तीनों को आत्मलीन रखते थे।

३।९

१९. भगवान् निर्वस्त्र थे। लाढवासी लोगों को यह नग्नता पसन्द नहीं थी। इसलिए वे भगवान् के ग्राम-प्रवेश को पसन्द नहीं करते थे।

३।१२

२०. लाढ देश के निवासियों में कुछ लोग भद्र प्रकृति के थे। कुछ लोग सहसा सोचे-समझे बिना काम करने वाले थे। वे भगवान् को आसन से स्खलित कर देते, किन्तु ऐसा करने पर भगवान् रुष्ट नहीं होते। भगवान् के समभाव को देखकर उनका मानस बदल जाता और वे भगवान् के पास आकर अपने अशिष्ट आचरण के लिए क्षमा-याचना करते। जो क्रूर चित्त वाले थे, उनका हृदय-परिवर्तन नही होता था।

४।१

२१. अल्पाहार करना सरल कार्य नहीं है। साधारणतया मनुष्य बहुभोजी होते हैं। वे जब रोग से घिर जाते हैं, तब उससे छुटकारा पाने के लिए अल्पाहार करते हैं। भगवान् के शरीर में कोई रोग नहीं था। फिर भी वे साधना की दृष्टि से सर्प की भांति अल्पाहार करते थे।

रोग दो प्रकार के होते हैं—धातु-क्षोभ से उत्पन्न और आगन्तुक। भगवान् के शरीर में धातु-क्षोभ से होने वाले रोग नहीं थे। मनुष्य और जीव-जन्तुओं द्वारा घाव आदि (आगन्तुक रोग) किए जाते। उनके शमन के लिए भी भगवान् चिकित्सा नहीं कराते थे।

ग्वाले ने भगवान् के कान में शलाका प्रविष्ट कर दी। खरक वैद्य ने उसे निकाला और औषधि का लेपन किया। भगवान् ने मन से भी उसका अनुमोदन नहीं किया।

४।२

२२. भगवान् ने दीक्षित होते ही एक संकल्प किया था—'मैं साधना-काल में शरीर का विसर्जन कर रहूंगा।' इस संकल्प के अनुसार वे शरीर के परिकर्म से

मुक्त रहते थे। जो साधक आत्मा के लिए समर्पित हो जाता है, उसके लिए शरीर की सार-सम्भाल और साज-सज्जा से मुक्त होना आवश्यक है ही। साथ-साथ शरीर की विस्मृति भी आवश्यक है। यह चर्या उसकी विस्मृति का अंग है।

४।६

२३. भगवती सूत्र वृत्ति (पत्र ७०५) में 'अन्नगिलाय' शब्द की व्याख्या मिलती है। जो अन्न के बिना ग्लान हो जाता है, वह अन्नग्लायक कहलाता है। वह भूख से आतुर होने के कारण ताजा भोजन बने तब तक प्रतीक्षा नहीं कर सकता; इसलिए प्रातःकाल होते ही जो कुछ बासी भोजन मिलता है, उसे खा लेते हैं।

४।१५

२४. प्रमाद छः प्रकार का होता है—

१. मद्य-प्रमाद
२. निद्रा-प्रमाद
३. विषय-प्रमाद
४. कषाय-प्रमाद
५. द्युत-प्रमाद
६. निरीक्षण (प्रतिलेखना) प्रमाद

(—स्थानांग सूत्र, ६।४४)

चूर्णिकार के अनुसार भगवान् ने अन्तर्मुहूर्त को छोड़कर निद्रा-प्रमाद का सेवन नहीं किया।

वृत्तिकार के अनुसार भगवान् ने कषाय आदि प्रमादों का सेवन नहीं किया।

इस पाठ का आशय यह है कि भगवान् जीवन-चर्या चलाते हुए भी प्रतिक्षण अप्रमत्त रहते थे।

शब्दकोष

अं

अंजू (ऋजु) (३।५) संयमी
(९।१७) मध्यस्थ
अंतर (अन्तर) (२।११) अवसर
अंतर (अन्तर) (२।१३०) शरीर के स्रोत

अ

अकम्म (अकर्म) (२।३७, ५।१२०) ध्यानस्थ या आवरण-मुक्त
अकस्मात् (अकस्मात्) (८।१७) अहेतुक
अगंथ (अग्रंथ) (८।२।३३) अहिंसक, ग्रंथ-मुक्त
अच्चा (अर्चा) (१।१४०) शरीर
अचिर (अजिर) (८।८।२०) जीव-जन्तु-रहित स्थान
अणाणा (अनाज्ञा) (१।९७) तीर्थंकर के वचनों का अतिक्रमण
अणुट्ठाण (अनुष्ठान) (६।७४) आज्ञा का पालन
अणुधम्मिय (अनुधार्मिक) (९।१।२) अनुकूल धर्म, धर्मानुगामिता
अणुवसु (अणुवसु) (६।३०) अणुव्रत, गृहस्थ-धर्म
अणुवीइ (अनुवीचि) (१।५६) अनुचिन्तन
अणुवीइ (अनुविचि) (६।१०३) विवेकपूर्वक
अणोमदंसी (अनवमदर्शी) (३।४८) परम को देखने वाला
अतिअच्च (अतिक्रम्य) (६।१०) प्राप्त कर
अदिन्नादाण (अदत्तादान) (१।५८) चोरी
अनुदिशा (अनुदिशा) (१।१) विदिशा
अपइट्ठाण (अप्रतिष्ठान) (५।१२६) शरीर-रहित
अपडिण्ण (अप्रतिज्ञ) (२।११०, ८।१।२३) संकल्प-रहित
अपमत्त (अप्रमत्त) (३।११) आत्मा की सतत स्मृति वाला
अपलीयमाण (अप्रलीयमान) (६।३६) अनासक्त

अब्भाइक्खेज्जा (अभ्याख्यायेत) (१।३९) अस्वीकार करना चाहिए
अमुणी (अमुनि) (३।१) अज्ञानी
अरइ (अरति) (२।२७) चैतसिक उद्वेग
अरिहए (अर्हति) (३।४२) चाहता है
असंदीण (असंदीन) (६।७२) अप्लावित
असमणुन्न (असमनुज्ञ) (८।१।१) दृष्टि और वेश की दृष्टि से असमर्थित
असरण (अस्मरण) (६।१।१०) स्मृति नहीं लगाना
अस्साय (अस्वाद्य) (१।१२२) अरोचनीय, अनभिलपणीय
अहोविहार (अहोविहार) (२।१०) संयम

आ

आउट्टि (आकुट्टि, आवृत्ति) (५।७३) अविधिपूर्वक
आएस (आदेश) (२।१०४) पाहुना
आकेवलिअ (आकेवलिक) (६।३४) द्वंद्व-युक्त
आणवखेस्सामि (अनवेषयिष्यामि) (८।५।७७) आहार आदि की गवेषणा करूंगा
आणा (आज्ञा) (१।३८) तीर्थंकर या अतिशयज्ञानी के वचन
आणुपुव्वी (आनुपूर्विक) (८।६।१) क्रमशः प्राप्त
आतीतट्ठ (आत्तार्थ) (८।६।१०७) प्राप्तार्थ, कृतार्थ
आदाण (आदान) (२।१०१) संयम
आमगन्ध (आमगन्ध) (२।१०८) अशुद्धभोजी
आय-बल (आत्म-बल) (२।४१) शरीर-बल
आयाण (आजानीहि) (६।२४) जानो
आयाण (आदान) (६।३५) इन्द्रियां
आयाणिज्ज (आदानीय) (२।७२) संयम
आयाणीय (आदानीय) (१।२४) संयम
आरंभ (आरम्भ) (२।१८३) आचरण
आराम (आराम) (५।११७) आत्म-रमण
आवकहा (यावत्कथा) (९।१।२) मृत्यु-पर्यन्त
आसव (आश्रव) (४।१२) कर्म-बन्ध करने वाला, कर्म-बन्ध का हेतु
आहच्च (आहृत्य) (१।८५) सम्मुखीभूय

इ

इत्तरिय (इत्वरिक) (८।६।१०६) गति-युक्त

उ

उच्चागोय (उच्चगोत्र) (२।४९) श्लाघ्य पद
उच्चालइय (उच्चालगिक) (३।६३) परम तत्त्व के प्रति लगा हुआ
उड्ढंठाण (ऊर्ध्व-स्थान) (५।८१) सर्वांगासन आदि
उद्देस (उद्देश) (२।७३) निर्देश
उब्भिय (उद्भिज्ज) (१।११८) पृथ्वी को भेदकर उत्पन्न होने वाले जीव
उम्मग्ग (उन्मज्जन) (६।६) ऊपर आना, विवर
उवाहि (उपाधि) (३।१९) पर-संयोग से होने वाला पर्याय
उवेहा (उपेक्षा) (३।५५) निकटता से देखना, आचरण करना

ए

एज (एजः) (१।१४५) वायु

ओ

ओए (ओजः) (५।१२६) अकेला
ओए (ओजः) (६।१००) पक्षपात-रहित
ओमाण (अवमान) (९।१।१९) भोज-विशेष
ओमोयरिय (अवमौदर्य) (६।३७) अल्पीकरण
ओववाइय (औपपातिक) (१।२) पुनर्जन्म-सम्बन्धी
ओववाइब (औपपातिक) (१।११८) अकस्मात् उत्पन्न होने वाले—देवता और नारक
ओह (ओघ) (२।७१) संसार-प्रवाह

क

कम्म-समारम्भ (कर्म-समारम्भ) (१।७) क्रियात्मक प्रवृत्ति
कहंकह (कथंकथा) (८।६।१०७) संशय
किरिय (क्रिया) (९।१।१६) आत्मवाद, आस्तिकता
किवण (कृपण) (२।४८) विकलांग याचक
कुशल (कुशल) (२।४८) तीर्थंकर
केयण (केयण) (३।४२) चलनी
कोल (कोल) (८।८।१७) घुन

ख

खेयन्न (क्षेत्रज्ञ) (१।६७) (आत्मज्ञ)

ग

गंथ (ग्रन्थ) (३।५०) परिग्रह
गंथ (ग्रंथ) (८।२।२५) बन्धन
गच्छंति (गच्छंति) (६।१७) इच्छा करते हैं
गाम-धम्म (ग्राम्य-धर्म) (५।७८) वासना, मैथुन
गुण (गुण) (१।६३) इन्द्रिय-विषय
गेहि (गृद्धि) (६।३७) आसक्ति

च

चाई (देशी शब्द) (३।७) सहिष्णु
चिट्ठं (देशी शब्द) (४।१८) गाढ़
चिरराई (चिररात्री) (६।७६) आजीवन

छ

छण (क्षण) (२।२८०) हिंसा

ज

जाम (याम) (८।१।१५) अवस्था
जुतिमस्स (धुतिमान्) (८।३।३४) संयम

झ

झंझा (देशी शब्द) (३।६९) व्याकुल

ण

णंदि (नंदि) (२।१६२) प्रमोद
णाय (नाय) (२।७०) नायक—मोक्ष की ओर ले जाने वाला
णिकरण (अकरण) (१।६१) सर्वथा विरत
णिक्कम्मदंसी (निष्कर्मदर्शी) (३।३५) आत्मदर्शी
णियाग (नियाग) (१।३५) मोक्ष
णिरामगंध (निरामगन्ध) (२।१०८) शुद्धभोजी
णिहाय (निहाय) (८।३।३३) छोड़कर
णिहे (निदध्यात्) (२।११६) संग्रह करना
णिहे (देशी धातु) (४।५) छलना करना

णीयागोय (नीचगोत्र) (२।४९) अवहेलना-पद

त

तहागय (तथागत) (३।६०) वीतरागता की साधना करने वाले
तिरिच्छ (तिर्यक्) (२।१३३) मध्य
तिविज्ज (त्रिविद्य) (३।२८) तीन विद्याओं को जानने वाला
तुच्छय (तुच्छक) (२।१६७) साधना-शून्य
तुट्ट (त्रोटक) (६।११२) तोड़ने वाला
त्रस (त्रस) (१।११९) गति करने में समर्थ प्राणी

थ

थंडिल (स्थंडिल) (८।८।७) जीवजन्तु-रहित स्थान

द

दण्ड (दण्ड) (१।६९) हिंसक
दम (दम) (२।५९) शान्ति
दविअ (द्रव्य, द्रविक) (१।१४९) देहासक्ति-मुक्त
दिट्ठ (दृष्ट) (४।६) विषय
दीहलोग (दीर्घलोक) (१।६७) अग्नि
दुक्ख (दुःख) (२।६९) कर्मकर
दुगंछणा (जुगुप्सा) (१।१४५) संयम
दुव्वसु (दुर्वसु) (२।१६६) १. दरिद्र २. मोक्ष-गमन के लिए अयोग्य ३. साधना में दुःखपूर्ण वास करने वाला
दूरालइय (दूरालगिक) (३।६३) दूर लगा हुआ

ध

धुवचारिणो (ध्रुवचारी) (२।६१) मोक्ष की ओर
धूयवाद (धुतवाद) (६।२४) कर्म-शरीर के प्रकम्पन की विशेष पद्धति, परित्याग

न

नूम (देशी शब्द) (८।४।२४) माया, वंचना का आवरण

प

पगंथ (देशी शब्द) (६।४२) गाली देना
पज्जवजाय (पर्यवजात) (३।१७) पर्याय समूह
पडियार (प्रतिचार) (८।६।१२) सेवा
पडिसंखाए (प्रतिसंख्यात) (५।१०६) व्यपदृष्टि
पया (प्रजा). (३।४७) स्त्री
परिणिव्वाण (परिनिर्वाण) (१।१२१) मुक्त
परिण्णा (परिज्ञा) (१।६) विवेक—जानना और छोड़ना
परितप्पमाण (परितप्यमान) (२।३) चिन्ताग्रस्त
परिवयंति (परिवदन्ति) (२।७) तिरस्कार करते हैं
परिसव (परिश्रव) (४।१२) कर्म-मोक्ष करने वाला, कर्म-मोक्ष का हेतु
पलियं (देशी शब्द)(४।२७) कर्म
पलिच्छिन्न (परिच्छिन्न) (४।२५) भली-भांति जाना हुआ, संयत
पलेमाण (पर्ययित्, प्रलीयमान) (४।१०) लीन रहता हुआ
पवेदित (प्रवेदित) (२।७१) विदित
पव्वहिअ (प्रव्यथित) (१।१४) व्यथित
पव्वहिय (प्रव्यथित) (२।९०) पराजित
परिहरेज्जा (सामयिक धातु) (२।११८) काम में लेना
पहेण (देशी शब्द) (२।१०४) उपहार
पाईण (प्राची) (१।९४) सामने
पाव (पाप) (८।१।११) हिंसा
पावाइया (प्रावादुक) (४।३०) प्रवचनकार, दार्शनिक
पावादुय (प्रावादुक) (४।२५) प्रवचनकार, दार्शनिक
पासग (पश्यक) (२।७३) द्रष्टा (तत्वदर्शी)
पुढो (पृथक्) (१।१५) पृथक्-पृथक्
पुढो (पृथक्) (१।१६) प्रत्येक
पुढो (पृथु) (२।५७) विपुल
पोयय (पोतज) (१।११८) आवरण-रहित, शिशु रूप में उत्पन्न होने वाले जीव

फ

फरुसियं (परुष) (३।७) कष्ट
फलगावयट्ठी (फलकवावतष्टः) (६।११२) फलक की तरह छिला हुआ

फास (स्पर्श) (१।८) आघात

व

बंभचेर (ब्रह्मचर्य) (४।४४) आचार, मैथुन-विरति, गुरुकुलवास

भ

भूय (भूत) (२।५२) प्राणी

म

ममाइय (ममादित) (२।१५६) परिग्रह
महाजाण (महायान) (३।७८) मोक्ष-मार्ग
महामोह (महामोह) (२।९४) अब्रह्मचर्य
महाविही (महाविथि) (१।३७) महापथ (अहिंसा, समता)
महासड्ढी (महाश्रद्धावान्) (२।१३७) महान अभिलाषी
मार (मार) (३।६६) १. मृत्यु २. कामना
माहण (माहन) (३।४५) अहिंसक
माहण (माहन) (९।१।२२) ब्राह्मण, अहिंसक
मुच्छति (मूर्च्छति) (१।९५) आसक्त होता है
मुणी (मुनि) (१।१२) ज्ञानी
मुयच्च (मृतार्च) (४।२८) १. देह के प्रति अनासक्त २. कषाय-मुक्त
मूलट्ठाण (मूलस्थान) (२।१) संसार।

र

रिक्कासि (देशी शब्द) (६।१।४) छोड़ दिया
रूव (रूप) (३।५७) पदार्थ
(४।१३) शरीर

ल

लज्जमाण (लज्जमान) (१।१५) संयमी
लालप्पमाण (लालप्यमान) (२।५१) पुनः पुनः कामना करता हुआ
लूह (रुक्ष) (६।११०) संयम या अनासक्ति
लोगसण्णा (लोकसंज्ञा) (२।१५९) अर्थासक्ति

व

वंक (वक्र) (१।९८) असंयममय
वक्खाय-रय (व्याख्यात-रत) (५।१२२) सूत्र और अर्थ में रत
वज्ज (वर्ज्य) (८।८।१८) कर्म
वण्ण (वर्ण) (५।५३) यश
(८।८।२३) संयम
वय (वय) (२।१५२) गति
ववहार (व्यवहार) भिन्नताकारक व्यपदेश
—भेदसूचक, नामगोत्रसूचक आदि
वसु (वसु) (६।३०) महाव्रत, मुनि-धर्म
वसुम (वसुमान्) (१।१७५) बोधि-सम्पन्न
विअंति-कारए (व्यंतिकारक) (८।४।६०) अन्त-क्रिया करने वाला, पूर्ण कर्म-क्षय करने वाला
विओवाए (व्यवपात) (६।११३) गिरना
विणय (विनय) (१।१७२) आचार
वितद्द (वितर्द) (६।९२) हिंसक
विधूतकप्प (विधूतकल्प) (३।६०) धुत आचार वाला
विप्परामुसइ (विपरामृषति) (२।१५०) स्पर्श (आसेवन) करता है
विप्पिया (दे) (६।१०) विघ्न-युक्त
विमोह (विमोह) (८।८।१) तीन प्रकार का अनशन
वियडं (दे) (९।१।१९) प्रासुक, निर्जीव
विवेग (विवेक) (५।७३) विलय, अभाव
विसोत्तिया (विस्रोतसिका) (१।३६) चित्त की चंचलता
विहं (देशी शब्द) (८।४।५८) मार्ग
वेयव (वेदवत्) (३।४) शास्त्र का अधिकारी
वेयावडिय (वैयापृत्य) (८।५।७६) व्यापृत होना, सेवा करना

स

संघड (देशी शब्द) (४।५२) निरन्तर
संचिक्खति (संतिष्ठते) (६।३९) अनुशीलन करता है
संतरूत्तर (सान्तरोत्तर) (८।४।५१) १. भीतरी और बाहरी वस्त्र
२. अधो वस्त्र, उत्तरीय वस्त्र
संथव (संस्तव) (४।१७) परिचय, समागम
संथुय (संस्तुत) (२।२) सहवासी
(२।१०६) अवसर
संधि (संधि) (२।१२७) शरीर के जोड़
(३।५१) स्वरूप
(५।४१) ज्ञान, दर्शन, चारित्र की समन्वित आराधना
(५।६८) ग्रन्थि, समस्या
संवुडे (संवृत्त) (८।८।२२) देह को विसर्जित करने वाला
संहिया (संहित) (६।१५) एकत्र
सगडब्भि (स्वकृतभिद्) (३।७३) स्वकृत का भेदन करने वाला
सण्ण (सन्न) (२।३३) निमग्न
सण्णा (संज्ञा) (१।१) ज्ञान-चेतना
सण्णिचओ (संनिचय) (२।१८) चीनी, घृत आदि पदार्थों का संग्रह
सण्णिही (सन्निधि) (२।१८) दूध, दही आदि पदार्थों का संग्रह
सत्थ (शस्त) (२।३) हिंसक
सत्थ (शस्त्र) (३।१७) आसक्ति
सपेहा (स्वप्रेक्षा) (२।४३) अपना चिन्तन
समण्णागय (समन्वागत) (१।१७५) सत्यपूर्ण
समणुण्ण (समनुज्ञ, समनोज्ञ) (५।६६) सम्यग् अनुज्ञा वाला, सम्यग् आचार वाला
समणुण्ण (समनुज्ञ) (८।१।१) दृष्टि और वेश की दृष्टि से समर्थित
समयं (समताम्) (३।३) समता को
समुस्सय (समुश्रय) (४।४४) शरीर, कर्म-शरीर
समेमाण (समायत्) (४।१००) जाता हुआ
सम्मुच्छिम (सम्मुर्छिम) (१।११८) अगर्भज जीव
सहपमाय (स्वप्रमाद) (२।५५) अपना प्रमाद
सहसम्मुइ (स्व-संस्मृति) (१।३) अपनी स्मृति
सागारिय (सामयिक शब्द) (५।१०, ९।१।६) संभोग
साय (स्वाद्य) (४।२५) प्रिय
सासए (शाश्वत) (८।८।२४) स्थायी
सीय-फास (शीत-स्पर्श) (८।४।५७) अनुकूल परीषह

सोय (स्रोत) (३।६) विषयाभिलाषा, कामना
(५।१२०) इन्द्रिय-विषय

ह

हंत (हंत) (९।१।५) सम्बोधन
हव्व (अर्वाक्) (२।३४) इस ओर
हुरत्था (देशी शब्द) (५।१२) काम-भोग
(८।२।२१) बाहर।